इस्लाम
की
पारिवारिक व्यवस्था

लेखक
मौलाना सय्यद जलालुद्दीन उमरी
अनुवादक
मुनाज़िर हक़

विषय-सूची

कुछ फ़िक़ही आदेश

بِسْمِ اللّٰهِ الرَّحْمٰنِ الرَّحِيْمِ ○

'बिसमिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम'

'अल्लाह के नाम से जो बड़ा ही मेहरबान और रहम करनेवाला है।'

प्रस्तावना

परिवार समाज की प्राचीनतम संस्था है। इसकी ज़रूरत अतीत में भी थी, वर्तमान में भी है और भविष्य का इनसान भी इससे बेनियाज़ (निस्पृह) नहीं हो सकता। जब कभी परिवार का निर्माण सही बुनियादों पर हुआ, उसके उद्देश्य प्राप्त हुए और वह सुख-चैन एवं आराम-राहत का केन्द्र बना रहा। इसके विपरीत जब परिवार विघटन का शिकार हुआ तो उसकी उपयोगिता को ठेस पहुँची और उसकी बरकत एवं फल से दुनिया वंचित होती चली गई। वर्तमान समय जिन गंभीर समस्याओं से ग्रस्त है उनमें एक परिवार की तबाही भी शामिल है। आज पारिवारिक व्यवस्था को ग़लत रस्म-रिवाज, अनुचित एवं अव्यावहारिक नियमों, मज़हब की ग़लत व्याख्या और भौतिकवाद के ग़ल्बे ने कमज़ोर से कमज़ोरतर कर दिया है। परिवार का केवल कमज़ोर ढाँचा रह गया है और उसकी आत्मा निकल चुकी है। परिवार में प्रेम का जो सुखद वातावरण था वह ख़त्म होता जा रहा है और उसकी जगह स्वार्थपरता एवं हितलोलुपता ने ले ली है। ख़ानदानी रिश्ते और ताल्लुक़ात इस प्रकार प्रभावित हो रहे हैं कि व्यक्ति परिवार के लिए और परिवार व्यक्ति के लिए अजनबी बनकर रह गया है। अब तो परिवार की प्रासंगिकता एवं औचित्य ही बहस का विषय बन गया है और परिवार के बन्धन से मुक्त होकर आज़ाद ज़िन्दगी का रुझान पनप रहा है। इसलिए समय की अनिवार्य माँग है कि परिवार की आवश्यकता एवं महत्व को महसूस किया जाए और सही बुनियादों पर इसका निर्माण हो। इसके बिना परिवार के पतन को रोका नहीं जा सकता।

दुनिया पर इस्लाम के अनगिनत उपकार हैं। उसका एक महान उपकार यह है कि उसने परिवार-व्यवस्था की एक विस्तृत एवं व्यापक व्याख्या पेश की है। औरत और मर्द का रिश्ता न्याय और इनसाफ़ की बुनियाद पर स्थापित किया है, परिवार के सदस्यों के अधिकार एवं कर्त्तव्यों को ठीक-ठीक निर्धारित किया है और उनके बीच हमदर्दी, मुहब्बत और सद्व्यवहार का वातावरण बनाया है। उसने परिवार के गठन में क़ानून और नैतिकता दोनों से मदद ली और उसे आत्मा एवं शरीर की दृष्टि से एक सम्पूर्ण व्यवस्था का रूप प्रदान किया है।

इस समय इस विषय पर एक छोटा-सा प्रयास आपके समक्ष है। शुरू में परिवार की ज़रूरत एवं महत्व पर प्रकाश डाला गया है। फिर इस्लाम से पूर्व के अरब जगत् की पारिवारिक व्यवस्था का किसी हद तक जायज़ा लिया गया है। इसकी रौशनी में आशा है कि इस्लाम के रचनात्मक एवं सुधारात्मक क़ामों को बेहतर तरीक़े से समझा जा सकेगा। इसके बाद बहुत ही संक्षेप में यह बताने की कोशिश की गई है कि इस्लाम किस प्रकार परिवार को समाज की एक अच्छे, कल्याणकारी और मज़बूत संस्था के रूप में अस्तित्व में लाता है और उसे आगे बढ़ाता एवं मज़बूती प्रदान करता है। वह परिवार की भौतिक ज़रूरतों और उसकी नैतिक अपेक्षाओं में से किसी को नज़रअन्दाज़ नहीं करता, वह दोनों को पूरा महत्व देता और उनमें से किसी पहलू से कमी आए तो उसके सुधार के लिए उचित उपाय अपनाता है।

इस किताब में जिन मसलों से बचा गया है उनमें से कुछ पर मैंने अपनी दूसरी रचनाओं और व्याख्यानों में विस्तार से चर्चा की है। यहाँ उन मसलों पर संक्षेप में चर्चा की गई है। इस्लाम की पारिवारिक व्यवस्था के विभिन्न पहलुओं पर मुझे कभी-कभी लिखने या अपने विचार व्यक्त करने के अवसर मिलते रहे हैं। उनमें इस विषय से सम्बन्धित जो प्रश्न उभरते हैं उनका इस्लाम की रौशनी में जवाब देने की कोशिश की गई है। इस तरह के कुछ लेख और व्याख्यान पुनरीक्षण

और मामूली कमी-बेशी के बाद किताब में शामिल कर लिए गए हैं। इनमें कुछ अहम सामाजिक एवं नागरिक समस्याएँ एवं फ़िक़्ही आदेश शामिल हैं।

मैंने अपने लेखकीय जीवन के आरम्भिक दौर में 'इस्लाम की पारिवारिक व्यवस्था' के शीर्षक से मासिक 'ज़िन्दगी' (उर्दू) रामपुर (यू॰पी॰) में लेखों की एक शृंखला शुरू की थी। अभी यह पूरी भी नहीं हुई थी कि किताबी रूप में प्रकाशित हो गई। प्रस्तुत पुस्तक के लिए हालाँकि उसी शीर्षक का चयन किया गया है, परन्तु उसकी बहुत थोड़ी सामग्री पुनरीक्षण एवं संशोधन के बाद इसमें शामिल की गई है। शेष सभी सामग्री बाद की है। इस प्रकार यह किताब नए रूप में पेश की जा रही है। मैंने इसे बेहतर बनाने की भरसक कोशिश की है, लेकिन यह कोशिश बहरहाल एक विद्यार्थी की कोशिश है। इसमें त्रुटियों एवं भूल-चूक की सम्भावना है। अहले-इल्म (विद्वानों) से गुज़ारिश है कि वे इसमें जो ग़लती या त्रुटि महसूस करें उससे हमें ज़रूर अवगत कराएँ। इनशा-अल्लाह, इसका सुधार आगामी प्रकाशनों में कर लिया जाएगा। अल्लाह से दुआ है कि यह छोटी-सी ख़िदमत इस्लाम की पारिवारिक व्यवस्था के परिचय का एक लाभदायक ज़रिआ साबित हो। अल्लाह इसे केवल अपने फ़ज़्ल व करम से क़बूल फ़रमाए और इस हक़ीर बन्दे को इसके अज्र व सवाब का हक़दार बनाए।

— जलालुद्दीन उमरी

26 सितम्बर, 2006 ई॰

02 रमज़ानुल-मुबारक, 1427 हि॰

प्रकाशक की ओर से

प्रस्तुत पुस्तक 'इस्लाम की पारिवारिक व्यवस्था' को पेश करते हुए हमें बहुत ख़ुशी हो रही है। यह पुस्तक मौलाना सय्यद जलालुद्दीन उमरी साहब की उर्दू किताब 'इस्लाम का आइली निज़ाम' का संक्षिप्त संस्करण है। इस पुस्तक में मौलाना ने परिवार के गठन और व्यवहार सम्बन्धी सभी महत्वपूर्ण विषयों पर प्रकाश डाला है। इस किताब के हिन्दी अनुवाद, प्रूफ़ आदि में अत्यन्त सावधानी बरती गई है कि कहीं कोई त्रुटि न रह जाए। इसके बावुजूद भी यदि कोई त्रुटि पाठक महसूस करें तो हमें अवश्य सूचित करें ताकि अगले संस्करण में उसको सुधारा जा सके। आपके सुझावों का स्वागत है।

— प्रकाशक

परिवार और क़बीला

परिवार

(अहमियत एवं संक्षिप्त इतिहास)

व्यक्तियों के समूह से परिवार वुजूद में आता है। परिवार राज्य की पहली मंज़िल और उसकी बुनियाद है। परिवार एवं राज्य मिलकर समाज की रूपरेखा तय करते हैं। ये सभी एक-दूसरे से फ़ायदा भी उठाते हैं और एक-दूसरे को प्रभावित भी करते हैं।

परिवार का प्रारम्भ कब हुआ? कैसे हुआ? इसके कारक एवं उत्प्रेरक क्या थे? इन प्रश्नों के उत्तर इनसान की फ़ितरत (स्वभाव) और उसके इतिहास में तलाश किए जा सकते हैं।

इनसान समूह में रहना पसन्द करता है

इस धरती पर जब से इनसान का वुजूद है, वह अपने सहजातीय लोगों के साथ मिल-जुलकर रह रहा है और सामाजिक ज़िन्दगी गुज़ार रहा है। वह अपने स्वभाव एवं प्रकृति के कारण उनसे अलग-थलग नहीं रह सकता। वह स्वाभाविक रूप से समाज-प्रिय है। इतिहास के किसी ऐसे कालखण्ड का उदाहरण नहीं मिलता, जिसमें मानव-जाति बिखरी हुई, अलग-अलग ज़िन्दगी गुज़ार रही हो।

इनसान सामाजिक जीवन पर निर्भर है

अल्लाह ने इनसान को ऐसा बनाया है कि वह हर क़दम पर दूसरे इनसानों के सहयोग का मोहताज है। इसके बिना वह आहार, लिबास, दवा-इलाज और मकान जैसी बुनियादी ज़रूरतें भी पूरी नहीं कर सकता। इनसान अपना पेट भरने के लिए भोजन का जो निवाला लेता है और अपना शरीर ढकने के लिए जो कपड़े इस्तेमाल करता है उसमें बहुत-से

लोगों की कोशिशें और मेहनत शामिल होती हैं। इसी सहयोग के कारण इनसान की ज़िन्दगी इतनी बहुरंगी और बहुआयामी है। सभ्यता एवं संस्कृति की सारी चमक-दमक तथा होश उड़ानेवाले जलवे इसी सहयोग-भावना का परिणाम हैं। इसके बिना इनसान की दुनिया न केवल अन्धकारमय हो जाएगी, बल्कि उसके वुजूद (अस्तित्व) एवं विकास ही को शायद ख़तरा पैदा हो जाएगा।

परिवार का आग़ाज़

इनसान जब इस दुनिया में क़दम रखता है तो उसकी माँ से उसका सबसे पहला रिश्ता जुड़ता है, फिर बहुत जल्द पिता भी इसमें सम्मिलित हो जाता है। इसके बाद भाई, बहन और दूर-नज़दीक के उन सभी लोगों से उसके सम्बन्ध स्थापित होते चले जाते हैं जो उससे ख़ून का रिश्ता रखते हैं। उन्हीं से उसका परिवार बनता है और उन्हीं के बीच उसकी सामाजिक ज़िन्दगी की शुरुआत होती है। परिवार से बाहर के लोगों से उसका सम्बन्ध इस शुरुआती दौर में बहुत कम होता है। उनसे मिलना-जुलना और सम्बन्धों का सिलसिला प्रायः बाद में शुरू होता है।

परिवार की ज़रूरत

इनसान अपनी जीवन-यात्रा में विभिन्न मरहलों (अवस्थाओं) से गुज़रता है। एक मरहला पैदाइश और बचपन का है जिसमें वह अपने विकास और ज़रूरतों की पूर्ति के लिए पूर्णतः दूसरों का मोहताज होता है। इस मरहले में उसका परिवार उसकी देखरेख और परवरिश करता है, उसकी ज़रूरतें पूरी करता है, और उसे इस योग्य बनाता है कि वह कर्मक्षेत्र में अपना हिस्सा अदा कर सके। सामर्थ्य एवं शक्ति के होते हुए कोई परिवार इस कर्तव्य को पूरा करने से दूर नहीं भागता। कभी-कभी इसमें ग़फ़लत अवश्य हो जाती है, परन्तु जान-बूझकर कोई भी परिवार ऐसा नहीं करता है। यह भी एक हक़ीक़त है कि इस कठिन काम में

कई बार परिवार से बाहर के लोगों का सहयोग भी प्राप्त होता है।

इनसान की ज़िन्दगी का दूसरा मरहला युवावस्था का है। इस मरहले में वह परिवार का ऐसा सदस्य होता है जो उसकी मदद का ज़रूरतमन्द भी होता है और उसकी मदद कर भी सकता है। अब वह जितना सहयोग परिवार से प्राप्त करता है उससे ज़्यादा परिवार का सहयोग करने की स्थिति में होता है। अतएव प्रायः परिवार को उसका सहयोग प्राप्त होता है।

तीसरा मरहला वृद्धावस्था का है, जो जवानी के बाद शुरू होता है। इस दौर में आदमी कमज़ोर एवं निर्बल हो जाता है। उसकी शक्ति धीरे-धीरे कमज़ोर होने लगती है। कभी यह मरहला इतना लम्बा खिँच जाता है कि आदमी बचपन ही की तरह लम्बे समय के लिए परिवार की देखरेख एवं सेवा का मोहताज हो जाता है।

ये मरहले प्रायः स्वाभाविक गति से आते हैं, परन्तु कभी-कभी विकलांगता, बीमारी, आकस्मिक दुर्घटना अथवा इसी प्रकार के किसी दूसरे कारणों से आदमी की परिवार पर निर्भरता लम्बे समय तक और कभी ज़िन्दगी भर के लिए हो जाती है। ऐसी स्थिति में परिवार का यह कर्तव्य समझा जाता है कि वह उसकी देखभाल और सेवा करता रहे।

परिवार की अहमियत

परिवार के सदस्यों के बीच हमदर्दी एवं सहयोग की भावना काम करती है। वे एक-दूसरे की ज़रूरतों की पूर्ति और अपेक्षाओं पर खरा उतरने की कोशिश करते हैं। ये सभी क्रियाएँ स्वाभाविक रूप से बिना किसी दबाव के चलती रहती हैं। परिवार की बहुत-सी समस्याएँ होती हैं। उन्हें परिवार के सदस्य मिल-जुलकर स्वयं ही हल करते रहते हैं। इसे वे बोझ नहीं बल्कि अपनी ज़िम्मेदारी समझते हैं। परिवार के प्रत्येक सदस्य को एक प्रकार का इत्मीनान होता है कि जब भी कोई ज़रूरत सामने आएगी, परिवार का सहयोग उसे प्राप्त होगा।

इस प्रकार परिवार का एक बड़ा फ़ायदा यह है कि आदमी के चारों ओर उसका भला चाहनेवाले, हितैषी और हमदर्द लोगों का एक घेरा मौजूद होता है, जिनके बीच वह स्वयं को सुरक्षित महसूस करता है, और जो कठिनाइयों में उसके काम आते हैं।

सुरक्षा एवं निगरानी की भावना

परिवार के सदस्यों के बीच एक-दूसरे की हिफ़ाज़त एवं निगरानी की तीव्र भावना पाई जाती है। प्राचीन काल में किसी व्यक्ति की जान, माल और इज़्ज़त-आबरू पर हमला होता तो पूरा परिवार उसे अपने ऊपर हमला मानता और अत्याचारी से बदला लेने को अपना फ़र्ज़ समझता था। यह बात बड़ी हीन समझी जाती थी कि किसी पर हमला हो और उसका परिवार मूक-दर्शक बना रहे और उसकी प्रतिरक्षा न करे।

परिवार की हिफ़ाज़त और उसकी प्रतिरक्षा के लिए उसका शक्तिशाली एवं मज़बूत होना ज़रूरी था। जो परिवार मज़बूत होता उसके सदस्य स्वयं को ज़्यादा सुरक्षित पाते। इसे बड़ाई एवं श्रेष्ठता का ज़रीआ समझा जाता और व्यक्ति इसपर गर्व करता था कि वह अमुक शक्तिशाली परिवार अथवा क़बीले का सदस्य है। किसी कमज़ोर ख़ानदान अथवा क़बीले में पैदा होना व्यक्ति के अपमान एवं हीनता का कारण माना जाता था। व्यक्ति स्वयं भी अपने को कमज़ोर और हीन समझता और दूसरे भी उसे कमज़ोर और तुच्छ समझते।

परिवार से सम्बन्ध के कारक

जब आदमी यह देखेगा कि परिवार उसके पालन-पोषण का भार उठा रहा है, उसके सहयोग से उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति हो रही है, कठिनाइयों में उसके काम आ रहा है, उसे जान, माल और इज़्ज़त-आबरू की सुरक्षा प्रदान कर रहा है और उसके दुश्मनों के मुक़ाबले में सीना तानकर खड़ा रहता है तो परिवार से उसका सम्बन्ध जुड़ा ही नहीं रहेगा बल्कि उसमें निश्चित रूप से मज़बूती आती जाएगी

और परिवार से कटकर रहना या उससे अलग होना वह पसन्द नहीं करेगा।

परिवार से इनसान का भावनात्मक सम्बन्ध भी होता है। वह उससे हार्दिक निकटता एवं एकरूपता महसूस करता है। दुख-सुख में वह उसे अपने साथ देखना चाहता है। परिवार के सदस्य ख़ुशी के अवसरों पर उसकी ख़ुशी को चार चाँद लगा देते हैं। उनका प्रेम एवं हमदर्दी दुख की घड़ियों में उसके दर्द को कम करती है और उसे राहत देती है। परिवार व्यक्ति के लिए उसकी ज़रूरत भी है और सुकून की वजह भी।

पारिवारिक जीवन इनसान की विशेषता है

पशु और मनुष्य के बीच एक बड़ा अन्तर परिवार का भी है। पशु का कोई परिवार नहीं होता, जबकि मनुष्य की पहचान यह है कि वह पारिवारिक ज़िन्दगी गुज़ारता है। पशुओं में नर एवं मादा कामतृप्ति के लिए एक-दूसरे के निकट आते हैं, इससे उनकी नस्ल भी फैलती रहती है। वे दोनों, विशेष रूप से मादा पशु अपनी सन्तति का इस हद तक लालन-पालन और हिफ़ाज़त करती है कि वह जीवन जीने के लिए आत्मनिर्भर हो जाए। इसके बाद उनके बीच कोई सम्बन्ध नहीं रहता। वे बिलकुल अलग हो जाते हैं। उनके बीच हमदर्दी एवं प्रेम की भावना भी समाप्त हो जाती है। उनके अन्दर यह एहसास भी बाक़ी नहीं रहता कि उनमें माँ-बाप कौन हैं और औलाद कौन? वे एक-दूसरे के लिए अजनबी बन जाते हैं। परिवार के लिए आवश्यक है कि उसके सदस्यों के बीच माँ-बाप और सन्तान का रिश्ता हमेशा स्थापित रहे और उसी के आधार पर सम्बन्धों का विस्तार हो। पशु की प्रकृति इससे अनभिज्ञ है। इसी कारण न उनका परिवार होता है और न उनके अन्दर अधिकारों एवं कर्तव्यों की सोच पाई जाती है।

इनसान का वुजूद भी मर्द एवं औरत के रूप में है। उनके बीच काम-भावना पाई जाती है। उसकी तृप्ति से उनकी नस्ल का सिलसिला

जारी है। परन्तु इनसान इस पहलू से हैवान (पशु) से भिन्न है कि उसका अपनी नस्ल से सम्बन्ध सामयिक और अस्थायी नहीं है, बल्कि सार्वकालिक और हमेशा के लिए है। वह जनक-जननी एवं सन्तति के अन्तर और श्रेष्ठता को जानता है, उसे कभी विस्मृत नहीं करता। इसी के आधार पर उसके अन्दर सहयोग की भावना तथा अधिकारों एवं कर्तव्यों की सोच पैदा होती है और इस प्रकार परिवार अस्तित्व में आता है।

परिवार के रूप

परिवार छोटे, बड़े हर प्रकार के होते हैं। इसके बहुत-से प्रकार अतीत से चले आ रहे हैं। उन सभी को तीन बड़े शीर्षकों के अन्तर्गत रखा गया है :—

1. संक्षिप्त परिवार

इसे परिभाषा में Nuclear Family कहा जाने लगा है। इसमें व्यक्ति अपनी पत्नी एवं बच्चों के साथ रहता है। कभी माँ-बाप और बहुत ही क़रीबी रिश्तेदार भी इसके सदस्य होते हैं। उन सबके खाने-पीने एवं रहने की व्यवस्था संयुक्त रहती है। कुछ शोधकर्ता इसे परिवार का सबसे प्राचीन रूप मानते हैं। आज भी परिवार का यह रूप मौजूद है बल्कि ज़्यादा प्रचलित है।

2. विस्तृत परिवार

संक्षिप्त परिवार से बड़े परिवार भी पाए जाते हैं। इसे विस्तृत परिवार (Extended Family) का नाम दिया गया है इसमें आदमी एक या एक से ज़्यादा बीवियों और बच्चों के साथ अलग मकान में रहता है, उसके विवाहित बच्चों में से कुछ अपना अलग परिवार बसाते हैं और कुछ उसके साथ ही निवास करते हैं। ये यद्यपि एक ही छत के नीचे रहते हैं, परन्तु उनमें से हर कमानेवाला व्यक्ति अपनी संक्षिप्त इकाई या बीवी-बच्चों के ख़र्च ख़ुद बरदाश्त करता है। यदि खाने-पीने की व्यवस्था

संयुक्त हो तो वह अपनी आय अथवा ख़र्च के अनुसार उसमें योगदान करता है।

3. संयुक्त परिवार

परिवार का एक रूप संयुक्त परिवार (Joint Family) है। इसमें एक पिता की सन्तानें, विशेषकर पुत्र एवं उनके बच्चे, सब मिलकर रहते हैं और परिवार की आर्थिक ज़रूरतें पूरी करते हैं। उनके खाने-पीने और रहने-सहने की व्यवस्था भी एक ही जगह या एक ही मकान में होती है। माना जाता है कि परिवार की यह व्यवस्था इतिहास के कृषि-काल में अस्तित्व में आई, जबकि अर्थ-व्यवस्था कृषि पर निर्भर थी। खेती में मानव-बल का बड़ा महत्व था, जितने अधिक लोग इसमें लगें, वह ज़्यादा बेहतर हो सकती थी। इसमें कृषि-योग्य भूमि का क्षेत्रफल बढ़ाना और उनपर क़ब्ज़ा करना भी आसान था। बड़े परिवार के व्यक्ति को ज़्यादा सुरक्षा प्राप्त होती है। कुछ लोगों का मानना है कि मानव-सभ्यता के आरम्भिक काल में परिवार का यही रूप था, बाद में इसके दूसरे रूप अस्तित्व में आए।

संयुक्त परिवार की एक अहम विशेषता यह है कि इसका एक मुखिया होता है जिसे बहुत-से अधिकार प्राप्त होते हैं और परिवार के सभी सदस्य उसके आदेशों एवं निर्देशों का पालन करते हैं। इसके विपरीत विस्तृत परिवार अथवा संक्षिप्त परिवार में किसी को नेतृत्व प्राप्त नहीं होता। हाँ, उम्रदराज़ लोगों के प्रति सम्मान की भावना अवश्य पाई जाती है। बड़े लोग सलाह-मशवरे दे सकते हैं, उन्हें अहमियत भी दी जाती है, परन्तु उनकी पाबन्दी ज़रूरी नहीं समझी जाती।

पिता-प्रधान एवं माता-प्रधान परिवार

दुनिया के अधिकतर देशों एवं क्षेत्रों में पिता-प्रधान अथवा पुरुष-प्रधान परिवार का प्रचलन है। ऐसे परिवार में औलाद पिता की समझी जाती है। यहाँ सारे अधिकार पिता को प्राप्त होते हैं और औलाद

पिता की उत्तराधिकारी होती है। माँ को क़ानूनी अधिकार प्राप्त नहीं होते। उसके साथ सद्व्यवहार अच्छा समझा जाता है। कुछ ऐसे इलाक़े जहाँ अभी तक सभ्यता-संस्कृति का ठीक से विकास नहीं हुआ है, माता-प्रधान परिवार भी पाए जाते हैं। ऐसे परिवार में विवाह के बाद पुरुष पत्नी के घर रहता है। औरत घर की स्वामिनी होती है। बच्चे उसी से पहचाने जाते हैं और जायदाद उसी की समझी जाती है। यह एक अस्वाभाविक रीति है। सभ्य दुनिया ने इसे व्यवहारतः रद्द कर दिया है।

पश्चिम में स्वतन्त्र लैंगिक सम्बन्ध आम हो चुका है। परिणामस्वरूप माता-प्रधान परिवार का एक नया रूप और आकार ले रहा है। वह इस प्रकार कि सेक्स-सम्बन्ध पति-पत्नी तक सीमित नहीं है। एक पुरुष के कई-कई औरतों से और एक औरत के कई-कई पुरुषों से सम्बन्ध होते हैं। ऐसे में नवजात शिशु की माँ तो निर्धारित एवं सर्वविदित होती है, परन्तु बच्चे के पिता का निर्धारण नहीं हो पाता कि वास्तव में बच्चा किस पुरुष के वीर्य का परिणाम है। अन्ततः बच्चा माँ के ज़रीए से ही पहचाना जाता है। वही उसकी ज़िम्मेदार होती है। यहाँ पुरुष की पारिवारिक ज़िम्मेदारियाँ ख़त्म हो रही हैं और औरत की ज़िम्मेदारियाँ बढ़ रही हैं। यह वास्तव में वेश्यावृत्ति का ही एक रूप है, जो परिवार-संस्था को ध्वस्त कर पूरे समाज को तबाह करनेवाला है।

परिवार समाज की बुनियाद है

परिवार छोटे और बड़े हो सकते हैं। उनके समूह से समाज अस्तित्व में आता है। परिवार की मज़बूती एवं स्थायित्व पर समाज की मज़बूती एवं स्थायित्व निर्भर है। परिवार की बुनियादें मज़बूत हों तो एक स्वस्थ समाज का निर्माण होगा। ये कमज़ोर हों तो पूरा समाज कमज़ोरी एवं अस्थिरता का शिकार होगा। एक-एक ईंट की मज़बूती से पूरी इमारत मज़बूत होती है। त्रुटिपूर्ण एवं कमज़ोर ईंटों से मज़बूत इमारत की कल्पना नहीं की जा सकती। परिवार वह बुनियादी पत्थर है कि यह अपनी जगह से हटता है तो पूरे समाज की चूलें हिल जाती हैं और

सम्बन्धों में बिगाड़ एवं ख़राबी पैदा होने लगती है। परिवार के टूटने से वह परिधि अथवा घेरा टूट जाता है जिससे इनसान का हार्दिक सम्बन्ध होता है। वे लोग जिन्हें इनसान अपना समझता है, जो उससे अति निकट होते हैं, वे भी दूर होते चले जाते हैं और एक-दूसरे के साथ सहयोग के लिए तैयार नहीं होते। वे सभी सम्बन्ध जो परिवार के कारण अस्तित्व में आते हैं और उसके विकास पर निर्भर हैं, इसके टूटते ही ख़त्म हो जाते हैं और इनसान परिवार के चैन-सुकून से वंचित हो जाता है। परिवार का टूटना कोई साधारण बात नहीं है। यह इतना बड़ा घाटा और नुक़सान है कि कोई भी समाज अधिक दिनों तक इसे सहन नहीं कर सकता।

क्या परिवार ज़रूरी है?

परिवार का पतन

वर्तमान समय में परिवार की अहमियत एवं उपयोगिता पर कई प्रश्न उठने लगे हैं। परिवार संस्था के औचित्य पर ही सवालिया निशान लगने लगा है। इस सन्दर्भ में विभिन्न प्रकार के प्रश्न एवं आपत्तियाँ की जाने लगी हैं। कहा जाता है कि इसमें औरत के अधिकार सुरक्षित नहीं हैं। एक विचार यह है कि परिवार कतिपय आर्थिक कारकों के नतीजे में वुजूद में आया है, अब वे कारक ही नहीं रहे। जो लोग राज्य के संघीय ढाँचे के पक्षधर हैं, वे परिवार समेत सभी सामाजिक संस्थाओं को राज्य के अधीन देखना चाहते हैं। ये विभिन्न अवधारणाएँ एवं मान्यताएँ सम्पूर्ण परिवार-व्यवस्था पर प्रभाव डाल रही हैं और वह अपनी अहमियत खोता जा रहा है। फलतः पश्चिम में परिवार-व्यवस्था बुरी तरह ध्वस्त हो रही है। पुरुष एवं महिला स्वच्छन्द कामतृप्ति के क़ायल हैं। वे निकाह (विवाह) की बन्दिश और परिवार की स्थापना का बोझ उठाना नहीं चाहते।

परिवार के विरोध में दलीलें

पारिवारिक व्यवस्था के ख़िलाफ़ जो दलीलें दी जाती हैं उनकी समीक्षा आवश्यक है।

1. परिवार पुरुष-सत्ता का सूचक है

पारिवारिक व्यवस्था औरत पर मर्द की प्रधानता एवं वर्चस्व की यादगार है। यह इसलिए वुजूद में आया कि औरत को घर की चहारदिवारी में क़ैद कर दिया जाए, ताकि वह मर्द के अधीन होकर रहे। यह औरत पर ज़ुल्म-ज़्यादती का एक रूप है। विचार एवं व्यवहार की

आज़ादी हर इनसान का स्वाभाविक अधिकार है। यह अधिकार मर्द एवं औरत दोनों ही को मिलना चाहिए। मर्द अपनी जिद्दोजुहद एवं भाग-दौड़ की ज़िन्दगी में आज़ाद रहे और औरत को घर की चहारदिवारी में क़ैद रखा जाए, इसका कोई औचित्य नहीं है।

यह विचार बिल्कुल ग़लत है कि परिवार की बुनियाद मर्द के ज़ुल्म-ज़्यादती और औरत की दासता पर आधारित है। परिवार मर्द एवं औरत दोनों की स्वाभाविक आवश्यकता है। वह उनके लिए सुख-शान्ति एवं चैन-राहत का केन्द्र है। इसके बिना उनकी ज़िन्दगी जंगल में भटके हुए मुसाफ़िर की तरह होगी। परिवार दोनों की संयुक्त संस्था है और वे मिल-जुलकर उसकी तामीर करते हैं। न तो मर्द यह चाहता है कि परिवार का विघटन हो और न औरत ही ऐसा चाहती है। इसलिए इसमें किसी के शासित और किसी के शासक होने का सवाल ही नहीं पैदा होता।

2. आर्थिक संसाधनों पर पुरुष का क़ब्ज़ा

औरत पति के मातहत रहने पर इसलिए मजबूर थी कि आर्थिक संसाधनों पर मर्द का क़ब्ज़ा था और औरत अपने जीवन की सुरक्षा के लिए उसकी मोहताज थी। आर्थिक मजबूरी न होती तो मर्द की ग़ुलामी का फन्दा उसकी गर्दन में न होता। आज स्थिति बदल गई है। उसे आर्थिक जिद्दोजुहद की आज़ादी है और वह बहुत हद तक आर्थिक मामलों में अपने पैरों पर खड़ी हो रही है। अतः अब वह मर्द के अधीन रहकर दरिद्रता की ज़िन्दगी गुज़ारने पर मजबूर नहीं है।

यह बात कि औरत आर्थिक रूप से मर्द की मोहताज थी, इसलिए वह अपना पेट पालने और आजीविका प्राप्त करने के लिए पारिवारिक ज़िन्दगी गुज़ार रही थी, वास्तविकता के विपरीत है। दुनिया देखती चली आ रही है और आज भी देख रही है कि एक व्यक्ति अपाहिज है, बिस्तर पकड़े हुए है, किसी का भरण-पोषण तो क्या करेगा दूसरों के

लिए स्थायी रूप से बोझ बना हुआ है, हर समय सेवा का मोहताज है, परन्तु इसके बावुजूद उसकी पत्नी उससे मुहब्बत करती है और उसकी सेवा को अपने लिए आवश्यक समझती है और किसी क़ीमत पर उससे अपना सम्बन्ध ख़त्म करना नहीं चाहती। दुनिया ने ऐसी घटनाएँ भी देखी हैं कि औरत ज्ञान एवं हुनर रखती है, हैसियतवाली है, उसके समक्ष राहत व आराम की ज़िन्दगी की सम्भावनाएँ हैं, फिर भी उसने पति के साथ निर्धनता एवं ग़रीबी की ज़िन्दगी गुज़ारने को प्राथमिकता दी। दुनिया के माल-दौलत को छोड़ना स्वीकार कर लिया, परन्तु विवाह के बन्धन को तोड़ना गवारा न किया। इस प्रकार की एक-दो नहीं अनगिनत घटनाएँ आख़िर क्या सन्देश देती हैं? यदि यह सम्बन्ध मात्र आर्थिक दुनिया पर स्थापित होता है तो इसे इन हालात में ख़त्म हो जाना चाहिए।

कहा जाता है कि समाज ने मान-अपमान के कुछ स्वरचित मापदण्ड बना लिए हैं, जिनके अनुसार किसी औरत का पति के चंगुल से आज़ाद होना उसके लिए अपमान एवं हीनता का कारण समझा जाता है। इसलिए औरत हर प्रकार की मुसीबत बर्दाश्त करके पति के साथ ज़िन्दगी के दिन काटती रहती है। इस सामाजिक दबाव को औरत की इच्छा, प्रसन्नता एवं रुचि का नाम देना ठीक नहीं है।

यह बात इसलिए सही नहीं है कि यह इनसान के स्वभाव के ख़िलाफ़ है कि वह किसी ज़ालिम-अत्याचारी को अपने दिल में जगह दे और उससे मुहब्बत करे। आदमी किसी अप्रिय व्यक्ति को सहन तो कर सकता है, परन्तु उससे प्रेम एवं करुणा का सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता। पति-पत्नी के बीच प्रेम-मुहब्बत का जो रिश्ता पाया जाता है उसे समाज का दबाव हरगिज़ नहीं कहा जा सकता।

यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि मर्द और औरत के बीच दाम्पत्य सम्बन्ध की बुनियाद वह मुहब्बत है जो स्वाभाविक रूप से उनके बीच पाई जाती है। पारिवारिक व्यवस्था उसी प्रेम-भावना को और विकसित

करती है। वह उनके स्वाभाविक आकर्षण को सामयिक निकटता का नहीं, बल्कि स्थायी साहचर्य का ज़रीआ बनाती है। वह उनके सामने कुछ ऐसे उद्देश्य रखती है जिसकी प्राप्ति के लिए उन्हें पूरी ज़िन्दगी लगानी पड़ती है और आर्थिक मामलों की हज़ार अहमियत के बावुजूद वे उससे ऊपर उठकर सोचने पर विवश होते हैं।

3. पारिवारिक सम्बन्धों की बुनियाद आर्थिक मामले हैं

मनुष्य और पशु में बहुत अन्तर है। पशु जन्म के बाद बहुत जल्द अपने पैरों पर खड़े हो जाते हैं और प्रकृति की हिदायत एवं मार्गदर्शन में ज़िन्दगी गुज़ारने लगते हैं, परन्तु मानव-शिशु लम्बी अवधि तक प्रेम, मुहब्बत, तवज्जोह, ध्यानाकर्षण की अपेक्षा रखता है। थोड़ी-सी ग़फ़लत और कोताही उसके वुजूद और भविष्य के लिए विनाशकारी साबित हो सकती है। परिवार-व्यवस्था में यह लम्बा और थका देनेवाला कार्य माता-पिता ख़ुशी-ख़ुशी अंजाम देते हैं। वे उसकी हिफ़ाज़त, विकास एवं शिक्षण-प्रशिक्षण में अपनी शक्ति लगा देते हैं। इसमें परिवार के अन्य सदस्यों का सहयोग भी प्राप्त होता है।

कहा जाता है कि इसके पीछे भी आर्थिक प्रेरणा कार्य करती है। माता-पिता औलाद का पालन-पोषण इसलिए करते हैं कि बुढ़ापे में उनका सहारा साबित हो। जब वे कमज़ोर हो जाएँ और वे भाग-दौड़ के योग्य न रह जाएँ तो उनकी औलाद उनका आर्थिक बोझ उठाए। उन्होंने जिस प्रकार उसकी ख़िदमत की है, वह उनकी वैसी ही ख़िदमत करे। यह आर्थिक सुरक्षा (Economical Security) का एक रूप था, और व्यवहारतः ऐसा होता भी था। माँ-बाप औलाद की देखभाल और सेवा करते और औलाद उनकी ज़रूरतें पूरी करती।

यह सारा दर्शन कि इनसान मात्र आर्थिक प्रेरणा से प्रेरित होकर औलाद की परवरिश करता है और उससे प्रेम प्रकट करता है, उसकी प्रकृति एवं स्वभाव से भिन्न है। इसमें उसकी पवित्र भावनाओं एवं

पाकीज़ा एहसास का अपमान है। इतिहास के लम्बे अनुभव इसके ख़िलाफ़ हैं। इसे यदि सही मान लिया जाए तो इनसान हैवान से भी गिरा हुआ साबित होगा। हैवान भी भविष्य की आर्थिक चिन्ता से आज़ाद होकर अपनी नस्ल की हिफ़ाज़त एवं परवरिश करता है। प्रकृति ने उसे इस काम के लिए जो क्षमताएँ एवं शक्तियाँ प्रदान की हैं, उन्हें वह पूर्णतः उपयोग में लाता है। खुले आकाश में विचरण करनेवाला पंछी यह सोचकर अपनी नस्ल के लिए एक-एक तिनका जमा करके घोंसला नहीं बनाता और एक-एक दाना चुनकर उसे इस विचार से नहीं खिलाता कि वह भविष्य में उसकी इसी प्रकार सेवा करेगा। यही हाल तमाम हैवानों (पशुओं) का है। सवाल यह है कि यह सब कुछ अल्लाह के द्वारा दिए गए स्वाभाविक नैसर्गिक मार्गदर्शन के तहत है तो इनसान की अपनी नस्ल के लिए कोशिश ही को क्यों एक आर्थिक प्रेरणा क़रार दिया जाए? इसकी क्या उचित दलील है?

इसपर एक और पहलू से भी ग़ौर किया जा सकता है। यदि औलाद से मुहब्बत और उनकी ख़िदमत के पीछे आर्थिक प्रेरणा अथवा चिन्ता कार्य करती है और इसी के लिए आदमी प्रयास करता है तो सम्पन्न माता-पिता को औलाद की तमन्ना ही नहीं होनी चाहिए। यदि औलाद हो तो उसकी परवरिश (पालन-पोषण) की चिन्ता और उसकी तरक़्क़ी की इच्छा से माता-पिता का सीना ख़ाली होना चाहिए। क्या धनी माँ-बाप इसी प्रकार सोचते और उसपर अमल करते हैं? इससे आगे बढ़कर ऐसे बच्चे की कल्पना कीजिए जो पूर्णतः अपाहिज है, जिससे किसी नफ़ा-नुक़सान की आशा ही नहीं की जा सकती, जो जीवन-भर माता-पिता के लिए भारी बोझ ही बना रहेगा। सवाल यह है कि एक माँ इस मांस के लोथड़े को अपने सीने से क्यों लगाए रखती है? कौन-सी भावना है जो पिता को उसकी देखभाल पर विवश करती है? क्या कोई व्यक्ति होश-हवास के साथ यह कह सकता है कि यह सब कुछ इस उम्मीद पर है कि वह भविष्य में उनके लिए आर्थिक सहारा साबित

होगा?

हक़ीक़त यह है कि हर प्राणी के अन्दर इस बात की तीव्र इच्छा पाई जाती है कि वह दुनिया से विदा होने से पहले अपना वारिस (उत्तराधिकारी) और जानशीन पैदा करे, ताकि उसकी नस्ल जारी रहे। यह इच्छा पशु की अपेक्षा इनसान के अन्दर तीव्रतर है। यदि यह इच्छा छीन ली जाए तो धरती से पशु का वुजूद भी ख़त्म हो जाएगा और इनसान का भी।

4. राज्य पारिवारिक आवश्यकताएँ पूरी करेगा

एक बात यह कही जाती है कि बच्चे की परवरिश और शिक्षा-दीक्षा के लिए अब परिवार की वह अहमियत नहीं रही जो पुराने ज़माने में थी। अब यह काम राज्य बेहतर तरीक़े से कर सकता है। कभी-कभी औलाद से सम्बन्धित ज़िम्मेदारियों को पूरा करना माता-पिता के लिए कठिन, बल्कि असम्भव होता है। एक निर्धन परिवार जो दो वक़्त की रोटी का मोहताज है, वह अपने बच्चे की परवरिश और उसके शिक्षण-प्रशिक्षण की व्यवस्था कैसे कर सकता है? आर्थिक रूप से कमज़ोर माता-पिता ही नहीं, बल्कि अपेक्षाकृत सम्पन्न माँ-बाप भी कभी-कभी कर्त्तव्यों का निर्वाह नहीं कर पाते। इस प्रकार कितने होनहार, मेधावी और प्रतिभाशाली बच्चे जो देश-समाज के काम आ सकते हैं, बेकार हो जाते हैं। राज्य अपने व्यापक माध्यमों एवं संसाधनों के द्वारा इस ज़िम्मेदारी को बेहतर तरीक़े से अंजाम दे सकता है। इस मामले पर कई पहलुओं से विचार करने की आवश्यकता है।

राज्य इनसान को कुछ सुविधाएँ तो उपलब्ध करा सकता है परन्तु परिवार का विकल्प नहीं बन सकता। दुनिया की किसी संस्था के पास प्रेम और मुहब्बत की वह दौलत नहीं है जिसे माँ-बाप दिन-रात अपनी औलाद (सन्तान) पर न्योछावर करते रहते हैं। माँ अपनी मुहब्बत-भरी निगाहों से इनसानियत, शराफ़त और हमदर्दी का जो पाकीज़ा (पवित्र)

पाठ अपनी औलाद को पढ़ाती है वह किसी पाठशाला या बौद्धिक-संस्था से प्राप्त नहीं हो सकता। उसकी लोरियाँ बच्चे के लिए केवल नींद बुलाने का माध्यम ही नहीं होतीं बल्कि वैर, वैमनस्य, घृणा और ईर्ष्या जैसी दुर्भावनाओं से दूर करने का कारण भी बनती हैं। पिता का स्नेहिल स्पर्श उसके दिल व दिमाग़ से नापाक जज़्बात (अपवित्र भावनाओं) को जिस ख़ूबी से निकाल सकता है वह ख़ूबी किसी दूसरे स्पर्श से मुश्किल ही से आ सकती है।

आज नैतिक-मूल्यों का ह्रास तीव्र गति से हो रहा है। प्रेम-मुहब्बत और निःस्वार्थ सेवा की भावना लुप्त होती जा रही है। इनसान क्रूरता और दरिन्दगी में जंगल के ख़ूँख़ार दरिन्दों को पीछे छोड़ चुका है और उसके ज़ुल्म व सितम ने संसार को नरक बनाकर रख दिया है। इन हालात में मुहब्बत और हमदर्दी के जज़्बे को उभारने तथा उसे बढ़ावा देने की पहले से ज़्यादा ज़रूरत है। क्या सरकारी प्रशिक्षणालय बच्चे के अन्दर ये ख़ूबियाँ पैदा कर सकती हैं? एक दाई बच्चे को समय पर दूध पेश कर सकती है, परन्तु वे पवित्र भावनाएँ उसके हलक़ के नीचे उतार नहीं सकती जिनका स्रोत केवल माँ की छाती है।

जहाँ तक बच्चे की परवरिश, सेहत-स्वास्थ्य, शिक्षा और आर्थिक सुरक्षा की गारंटी का सवाल है, यह एक कल्याणकारी राज्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने नागरिकों की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति करे। ताकि कोई व्यक्ति भूखा-नंगा न रहे, दवा-इलाज से वंचित न हो और उसके आवास की व्यवस्था हो। उन्हीं बुनियादी आवश्यकताओं में शिक्षा भी दाख़िल है। राज्य का कर्त्तव्य है कि किसी को अनपढ़ एवं जाहिल न रहने दे, शिक्षा से सम्बन्धित सुविधाएँ उपलब्ध कराए और शैक्षिक एवं बौद्धिक विकास के अवसर प्रदान करे। सवाल यह है कि क्या इसके लिए परिवार को ख़त्म करना या बच्चे को परिवार से जुदा करना ज़रूरी है?

कभी-कभी वर्तमान काल की मशीनी ज़िन्दगी को औलाद के

शिक्षण-प्रशिक्षण के मार्ग में रुकावट समझा जाता है। परन्तु यह विचार पूर्णतः ग़लत है कि आज का इनसान इतना व्यस्त है कि वह औलाद के उचित विकास एवं शिक्षण-प्रशिक्षण की ओर ध्यान नहीं दे सकता। अस्ल बात यह है कि आज के इनसान के साथ इतनी ग़ैर-ज़रूरी व्यस्तताएँ जुड़ गई हैं कि उसका ध्यान वास्तविक कर्त्तव्यों एवं ज़िम्मेदारियों से हट गया है और इसमें दिन-प्रतिदिन वृद्धि होती चली जा रही है। वर्तमान काल की भौतिकवादी एवं उपभोक्तावादी विचारधारा ने इनसान को भोग-विलास का प्रेमी बना रखा है। वह उसके पीछे दीवाना बनकर भागा जा रहा है और जहाँ तक सम्भव हो सामाजिक अंकुशों से आज़ाद ज़िन्दगी गुज़ारना चाहता है। इस राह में ज़िम्मेदारियाँ चूँकि बाधा बनती हैं, इसलिए उसके अन्दर ज़िम्मेदारियों से दूर भागने का रुझान पैदा हो रहा है। वह परिवार की ज़िम्मेदारियों से भी यथासम्भव बचना चाहता है। इसके लिए वह बच्चों को नर्सरी (शिशु-गृहों) के हवाले करके अपना समय सैर-सपाटों, मनोरंजन-स्थलों और क्लबों में गुज़ारना पसन्द करता है। यहाँ तक कि वह पारिवारिक ज़िन्दगी गुज़ारने और उसकी अपेक्षाओं को पूरा करने के बदले स्वच्छन्दता का मार्ग अपनाने लगा है। अन्यथा आज के माहौल में भी आदमी पारिवारिक ज़िम्मेदारियाँ पूरी करना चाहे तो कोई ऐसी वास्तविक रुकावट नहीं है, जिसपर क़ाबू न पाया जा सके।

5. आधुनिक काल में परिवार बिखर चुका है

परिवार में व्यक्ति की पत्नी और बच्चों के अलावा उसके माँ-बाप, भाई-बहन और दूर-निकट के सम्बन्धी सम्मिलित हैं और उनके अधिकार एवं कर्त्तव्य स्वीकार किए जाते हैं। कहा जाता है कि इन रिश्तों और सम्बन्धों की मर्यादा एवं सम्मान उस काल में था जबकि परिवार के सदस्य एक साथ रहते-बसते थे और संयुक्त पारिवारिक व्यवस्था स्थापित थी, जिसमें एक व्यक्ति का सद्व्यवहार दूसरा व्यक्ति देखता था और उससे मनोवैज्ञानिक रूप से प्रभावित होता था, साथ ही उसके एहसान से

दबा रहता था। फिर वह भी इन एहसानों और उपकारों का बदला चुकाने की कोशिश करता था। यहीं से रिश्ते-नाते वुजूद में आए, उनकी अहमियत स्वीकार की गई और उनके अधिकारों एवं कर्त्तव्यों के नियम-क़ायदे तैयार हुए। परन्तु वर्तमान मशीनी दौर ने इस परिस्थिति को ही उलट दिया है। आज एक बच्चे का माँ-बाप और परिवार के अन्य सदस्यों से वह सम्बन्ध नहीं है जो पुराने ज़माने में था। कभी-कभी तो उसे यह भी मालूम नहीं होता कि उसके माँ-बाप कौन हैं और किस व्यक्ति से उसका क्या रिश्ता है? यदि वह माँ को जानता भी हो तो उस माँ की क्या इज़्ज़त करेगा जिसकी मुहब्बत उसे ठीक प्रकार से न मिली हो। जिस बच्चे को जन्म के बाद नर्सरी से लेकर उच्च शिक्षा एवं नौकरी अथवा कारोबार तक कभी उसकी माँ ने छाती से नहीं लगाया, उसकी निगाह में उसकी क्या महानता एवं मर्यादा होगी और उसके अधिकारों की कल्पना उसके मस्तिष्क में कैसे आएगी? उस बाप को वह क्यों चाहेगा या उसकी आज्ञा का पालन करेगा जो उसकी परवरिश और देखभाल से दूर रहा हो, और इस कार्य को राज्य के ज़िम्मे सौंप दिया हो?

इसका जवाब यह है कि पारिवारिक व्यवस्था अपने कुछ उद्देश्य रखती है। यदि उन उद्देश्यों की अहमियत है और समाज के बेहतर निर्माण एवं विकास के लिए उनका पूरा होना ज़रूरी है तो परिवार को न केवल यह कि बाक़ी रहना चाहिए, बल्कि उसे मज़बूत से मज़बूत भी होना चाहिए। कोई ऐसी जीवन-शैली, पद्धति जिससे परिवार की बुनियादें कमज़ोर होने लगें और वह ख़त्म होता चला जाए, सख़्त नुक़सानदायक होगा। परिवार को इनसान ने इसलिए नहीं छोड़ा कि वह अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में विफल है, बल्कि कतिपय अन्य कारणों से उसने परिवार से बग़ावत की और उसकी जड़ें खोद दीं। अब परिवार के टूटने से जो शून्यता पैदा हो गई है उसे भरने के लिए वह दूसरी संस्थाओं का सहारा ले रहा है। इसमें वह नाकाम है।

राज्य, परिवार का विकल्प नहीं है

वर्तमान काल के इनसान के निकट परिवार-संस्था का कमज़ोर या ख़त्म होना कोई बड़ा नुक़सान नहीं है। वह समझता है कि राज्य इसका बेहतर विकल्प है, हालाँकि राज्य के अन्दर उसके व्यापक अधिकारों और क्षमताओं के बावुजूद परिवार का विकल्प बनने की क्षमता नहीं है।

परिवार एक छोटी-सी संस्था है। इसकी अपनी ज़रूरतें और अपेक्षाएँ हैं। वह अपने संगठन एवं प्रशिक्षण के कुछ उसूल रखता है। इन ज़रूरतों को वे ही लोग ठीक से समझ सकते हैं जो उससे सीधे (प्रत्यक्षतः) सम्बद्ध हों और वे ही उसके जज़्बात (भावनाओं) एवं मानसिकता को ध्यान में रखते हुए उसके प्रति कर्त्तव्यों का निर्वाह कर सकते हैं। राज्य का दायरा बहुत व्यापक है और वह अधिकतर क़ानून एवं शक्ति का प्रयोग कर अपनी व्यवस्था चलाता है। राज्य परिवार के साथ सहयोग कर सकता है परन्तु वे जज़्बात अपने अन्दर पैदा नहीं कर सकता जो परिवार के सदस्यों के बीच पाए जाते हैं।

यहाँ एक और पहलू भी है जिसे नज़रअन्दाज़ नहीं किया जा सकता। वह यह कि हुकूमत (सरकार) का क़ब्ज़ा या कंट्रोल (नियंत्रण) जितना सीमित होगा व्यक्ति की प्रतिभाएँ उतनी ही निखरकर सामने आएँगी। व्यक्ति अपने बल पर अनुभवों के विभिन्न स्तरों से गुज़रने के बाद ही महान ज़िम्मेदारियों को उठाने में सक्षम होता है। यदि परिवार सरकार (राज्य) के प्रभाव से मुक्त हो और उसे सही तरीक़े से काम के अवसर प्राप्त हों तो वह एक प्रशिक्षणशाला का भी काम दे सकता है जिसमें व्यक्ति सीमित पैमाने पर विभिन्न ज़िम्मेदारियाँ सँभालने और उन्हें सुचारु रूप से पूरा करने का प्रशिक्षण पाते हैं। यह प्रशिक्षण सही हो तो सामाजिक ज़िन्दगी के अन्य क्षेत्रों में भी लाभदायक सिद्ध हो सकते हैं।

अरब की पारिवारिक एवं क़बाइली व्यवस्था और इस्लाम का सुधारात्मक मार्गदर्शन

क़बाइली व्यवस्था

इस्लाम के आने से पहले अरबवासी क़बाइली ज़िन्दगी गुज़ारते थे। क़बीला परिवारों के समूह से वुजूद में आता है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि परिवार जब फैलता है तो क़बीले का रूप धारण कर लेता है।

समझौते के द्वारा ख़ानदान में शामिल होना

ख़ानदान का सम्बन्ध मूलतः रक्त-सम्बन्ध एवं कुल-वंश परम्परा से है, परन्तु कभी-कभी कोई नवयुवक अपनी क़द-काठी एवं रंग-रूप के कारण किसी को पसन्द आ जाता तो उसे वह अपना लेता और वह अब उसके कुल-वंश परम्परा से सम्बद्ध हो जाता।[1]

इसे लेकर उनके बीच समझौता भी होता, जिसके तहत वे एक-दूसरे की मदद के लिए वचनबद्ध हो जाते और एक-दूसरे के वारिस (उत्तराधिकारी) भी माने जाते और उन्हें वही अधिकार प्राप्त होते जो आदमी के निकटतम व्यक्तियों को प्राप्त होते।

---

1. क़ुरतुबी (एक विद्वान) कहते हैं :

كان الرجل فی الجاهلية اذا اعجبه من الرجل جلدة و ظرفه ضمه الی نفسه و جعل له نصيب الذكر من اولاده من ميراثه و كان ينسب اليه فيقال فلان بن فلان۔ قرطبی، الجامع لاحكام القرآن جلد۷، جزء ۱۴، ص ۸۰

इस्लाम से पूर्व जब किसी को किसी की शक्ति, सामर्थ्य एवं सूझबूझ पसन्द आ जाती तो उसे वह अपना लेता और विरासत में उसका हिस्सा अपने बेटे के समान क़रार देता। इसके बाद उसी की ओर उस युवक की सम्बद्धता हो जाती और कहा जाने लगता की अमुक व्यक्ति अमुक की औलाद है।

(क़ुरतुबी, अल-जामिउ-लि-अहकामिल-क़ुरआन जिल्द-7, जुज़-14, पृष्ठ-80)

क़तादा (रह०) कहते हैं–

كان الرجل في الجاهلية يعاقد الرجل فيقول دمي دمك وهدمي هدمك و ترثني وأرثك وتطلب بي واطلب بك

"इस्लाम से पूर्व एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से समझौता करता और कहता कि मेरा ख़ून तुम्हारा ख़ून है (कोई मुझे क़त्ल कर दे तो तुम क़िसास अथवा दियत का उसी प्रकार मुतालबा कर सकते हो, जिस प्रकार अपने किसी निकट-सम्बन्धी के ख़ून के मुतालबे का तुम्हें हक़ है), जिसने मेरी इज़्ज़त पर हमला किया, उसने तुम्हारी इज़्ज़त पर हमला किया (या जिस हत्यारे को मैंने माफ़ किया तुमने भी उसे माफ़ किया), तुम मेरे वारिस होगे और मैं तुम्हारा वारिस हूँगा। मुझपर ज़्यादती हो तो उसके बदले का तुम मुतालबा करोगे और तुमपर ज़्यादती हो तो मैं उसके बदले का मुतालबा करूँगा।" (इब्ने-जरीर, जामिउल-बयान अन तावीलि आयिल-क़ुरआन। तहक़ीक़ महमूद मुहम्मद शाकिर, दारुल-मआरिफ़, मिस्र 1971, 275/8। यही बात इकरिमा ने इन अलफ़ाज़ में कही है –

كان الرجل يقول للرجل ترثني وارثك، و تنصرني وانصرك، و تعقل عني و اعقل عنك. طبري: ٢٧٦/٨

आदमी दूसरे आदमी से कहता है कि तुम मेरे वारिस होगे और मैं तुम्हारा वारिस हूँगा, और तुम मेरी मदद करोगे मैं तुम्हारी मदद करूँगा। और मुझपर ज़्यादती हो तो उसके बदले का तुम मुतालबा करोगे और तुमपर ज़्यादती हो तो मैं उसके बदले का मुतालबा करूँगा।

तफ़सीर की किताबों में इस प्रकार के समझौते का उल्लेख अपेक्षाकृत विस्तार से मिलता है। ज़मख़शरी कहते हैं–

كان الرجل يعاقد الرجل فيقول دمي دمك و هدمي هدمك و ثأري ثأرك، و حربي حربك، و سلمي سلمك و ترثني وأرثك، و تطلب بي و اطلب بك و تعقل عني و أعقل عنك.

"एक आदमी दूसरे आदमी से समझौता करता तो कहता कि मेरा ख़ून तुम्हारा ख़ून है, मेरे ख़ून का बेकार जाना तुम्हारे ख़ून का बेकार जाना है। मेरे ख़ून का बदला लेना तुम्हारा बदला लेना है। मेरी जंग तुम्हारी जंग और मेरी सुलह तुम्हारी सुलह है। तुम मेरे वारिस होगे और मैं तुम्हारा वारिस हूँगा। मुझपर ज़्यादती हो तो तुम मेरे बदले का मुतालबा करोगे और तुमपर ज़्यादती हो तो मैं तुम्हारे बदले का मुतालबा करूँगा। तुम मेरी ओर से दियत अदा करोगे, मैं तुम्हारी ओर से दियत अदा करूँगा।" (ज़मख़-शरी, अल-कश्शाफ़ अन-हक़ाइक़ित्तंज़ील 494/1। यही अल्फ़ाज़ अल-सीरतुल-हलबीया, दारुल-मआरिफ़ु-अल-इल्मीया, लबनान 440/1 में भी मौजूद हैं।)

क़बीले का हलीफ़ (सहयोगी)

कभी यह भी होता कि कोई व्यक्ति किसी क़बीले में पहुँच जाता और उसे वह अपना मददगार क़रार देता, अर्थात् इससे यह समझा जाता कि अब वह उसी क़बीले का सदस्य है। उसके साथ सद्व्यवहार एवं सद्भाव का रवैया अपनाया जाता, परन्तु इसमें यदाकदा ज़्यादतियाँ भी होती थीं। अपना हक़ और अधिकार होता अथवा किसी से जंग करनी होती तो उससे फ़ायदा उठाते, परन्तु यदि उसके हक़ की बात होती तो नज़रअन्दाज़ करने लगते। (तबरी, जामिउल-बयानः 280/8)

गोद लेने की परम्परा

अरब में गोद लेने की परम्परा प्रचलित थी। इसका तरीक़ा यह था

कि एक व्यक्ति किसी (नवयुवक) को अपना बेटा बनाकर एलान कर देता। अब दोनों का सम्बन्ध पिता-पुत्र के समान हो जाता। दत्तक-पुत्र की वंश-परम्परा अब गोद लेनेवाले की वंश-परम्परा के अनुसार व्यक्त की जाती। गोद लेनेवाले पिता की पत्नी उसकी माँ हो जाती और उसकी औलाद उसके भाई-बहन होते। उनके बीच उसकी घनिष्टता इस प्रकार होती जैसा एक पिता की औलाद के बीच होती है। वह एक-दूसरे के वारिस (उत्तराधिकारी) भी होते। (इब्ने-कसीर, तफ़सीरुल-क़ुरआनिल-अज़ीम 466/3, दारुल मारिफ़ा, लुबनान, 1969 ई॰)

हज़रत ज़ैद-बिन-हारिसा (रज़ि॰) की घटना मशहूर है। उनकी माँ सुअ्दा-बिन्ते-सअ्लबा अपने क़बीले बनू-मअन गईं। साथ में कमउम्र ज़ैद भी थे। इस बीच बनुल-क़ैन के लोगों ने इस क़बीले पर हमला कर दिया। इसी हमले के बाद वे ज़ैद को भी उठा ले गए और उकाज़ के मेले में ग़ुलाम के रूप में उन्हें बेच दिया। हकीम-बिन-हिज़ाम ने उन्हें ख़रीदकर अपनी फूफी हज़रत ख़दीजा (रज़ि॰) को दे दिया। हज़रत ख़दीजा (रज़ि॰) ने उन्हें अल्लाह के रसूल मुहम्मद (सल्ल॰) को हिबा कर दिया 'अर्थात् उपहार स्वरूप दे दिया'। ज़ैद (रज़ि॰) आपकी सेवा में थे कि उनके पिता एवं चाचा उन्हें लेने के लिए आ गए। अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने इस अवसर पर फ़रमाया कि यदि वे चाहें तो अपने पिता के साथ जा सकते हैं और चाहें तो आप (सल्ल॰) के साथ रह सकते हैं। हज़रत ज़ैद (रज़ि॰) ने अल्लाह के रसूल मुहम्मद (सल्ल॰) के साथ रहने को पसन्द किया। इसके बाद आप (सल्ल॰) ने उन्हें आज़ाद करके मुतबन्ना (दत्तक-पुत्र) बना लिया। हरम (ख़ान-ए-काबा) में ले गए और लोगों के बीच एलान फ़रमाया, اشهدوا هذا ابنی یرثنی وارثه "गवाह रहो कि यह मेरा बेटा है, यह मेरा वारिस होगा और मैं इसका वारिस हूँगा।" इसके बाद से आपको ज़ैद-बिन-मुहम्मद (सल्ल॰) कहा जाने लगा।

(इब्ने-अब्दुल-बर्र, अल-इस्तीआब फ़ी अस्माइल-अस्हाब 2/115-118; दारुल कुतुबिल इल्मीया, लुबनान 1995 ई॰। इब्ने-असीर,

उसुदुल-ग़ाबा 2/351-353; दारुल कुतुबिल इल्मीया, लुबनान 1996 ई॰)

हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-उमर (रज़ि॰) फ़रमाते हैं : ما كنا ندعو زيد بن حارثة الا زيد بن محمد "हम ज़ैद-बिन-हारिसा को ज़ैद-बिन-मुहम्मद ही कहा करते थे।"

(हदीस : सहीह बुख़ारी किताबुत्-तफ़सीर, सूरतुल अहज़ाब, बाब उदऊहुम लिआबाइहिम, सहीह मुस्लिम, किताबु फ़ज़ाइलिस्-सहाबा, बाबु फ़ज़ाइलि ज़ैदिब्नि हारिसा)

अल्लामा क़ुरतुबी (रह॰) कहते हैं कि हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-उमर (रज़ि॰) का यह कथन इस बात की दलील है कि ان التبنى كان معمولا به فى الجاهلية والاسلام يتوارث به و يتناصر الى ان نسخ الله ذلك "इस्लाम से पूर्व जाहिलियत के दौर में मुतबन्ना (दत्तक-पुत्र) बनाना आम बात थी। इसकी बुनियाद पर लोग एक-दूसरे के वारिस होते और आपसी सहयोग एवं समर्थन के प्रति वचनबद्ध हो जाते। इस प्रथा का प्रचलन तब तक रहा जब तक कि अल्लाह ने इसे निरस्त घोषित न कर दिया।"

(क़ुरतुबी अल-जामिउ-लि-अहकामिल-क़ुरआन जिल्द-7, जुज़-14, पृष्ठ-80)

पारिवारिक पक्षपात

परिवार में दूर के रिश्तों की अपेक्षा क़रीब के रिश्तों को ज़्यादा अहमियत प्राप्त होती है। निचली सतह पर उनमें जो आपसी समझ, विश्वास एवं दृढ़ता पाई जाती है, वह ऊपरी सतह पर बाक़ी नहीं रहती। दोनों के बीच किसी मरहले में टकराव की स्थिति उत्पन्न हो तो आदमी की हमदर्दी क़रीब के लोगों से होती है। अरबवासियों में ख़ानदानी (पारिवारिक) एवं क़बाइली भेदभाव की भावना बहुत तीव्र थी। इसमें क़रीब के रिश्तों को दूर के रिश्तों पर प्राथमिकता दी जाती थी। ख़ानदान एवं क़बीले के बीच संघर्ष की स्थिति में ख़ानदान का साथ दिया जाता था। ख़ानदान के समर्थन की भावना ने भेदभाव का रूप ले लिया था। हक़ व सच्चाई और न्याय व इनसाफ़ की जगह ख़ूनी रिश्तों

को अहमियत प्राप्त थी। क़रीबी लोगों की मदद और समर्थन को हर हाल में अनिवार्य समझा जाता था। एक अरब कवि कहता है :

لا يسألون اخاهم حين يندبهم   فى النائبات على ما قال برهانا

"मुश्किलों में जब उनका भाई आवाज़ देता है तो उससे उसके पुकारने की वजह नहीं पूछते।"

अज्ञान काल का प्रसिद्ध कवि 'तरफ़ा' अपने चचेरे भाई को सम्बोधित करके कहता है—

قرّبتُ بالقربى وجدّك انني   متى يك امر للنّكيثة اشهد

"मैंने दोस्ती का हक़ अदा किया है, क़सम है तेरी तक़दीर की, जब कोई ख़तरनाक घड़ी आएगी, मैं ज़रूर हाज़िर रहूँगा।"

وان ادع للجلّى اكن من حماتها   وان يأتك الأعداء بالجهد اجهد

"और यदि किसी बड़ी मुसीबत के समय मुझे आवाज़ दी गई तो मैं तेरी इज़्ज़त के रखवालों में रहूँगा, और यदि दुश्मन तेरे मुक़ाबले पर उतर आएँ तो मैं पूरी शक्ति से तेरी रक्षा करूँगा।

وان يقذفوا بالقذع عرضك اسقهم   بكأس حياض الموت قبل التهدّد

और यदि उन्होंने तेरी इज़्ज़त पर हमला किया तो मैं उनके धमकी देने से पूर्व ही उन्हें मौत का जाम पिला दूँगा।"

क़बीलों की जंगें

अरब के क़बीले मूलतः एक ही नस्ल के थे, परन्तु इसके बाद भी उनके बीच जंग और रक्तपात होता रहता था। कभी-कभी तो बहुत छोटी बातों पर तलवारें निकल आतीं और ख़ून-ख़राबे की नौबत आ जाती। उनकी ऐसी जंगों में फ़िजार के नाम से चार जंगें मशहूर हैं।

फ़िजार की पहली जंग

उकाज़ के मेले में बदर-बिन-मअशर अल-ग़िफ़ारी की मजलिस (ख़ास सभा) होती थी। वहाँ वह अपनी ऊँची हैसियत का प्रदर्शन करता और गर्व एवं अभिमान व्यक्त करता। एक रोज़ वह पैर फैलाकर बैठ गया और कहने लगा कि मैं अरब का सबसे प्रतिष्ठित व्यक्ति हूँ। जो कोई यह समझता है कि वह मुझसे भी ज़्यादा प्रतिष्ठावान है, वह इस पैर पर तलवार मार दे। एक व्यक्ति उठा और तलवार चला दी और पैर को ज़ख़्मी कर दिया। बस इसपर दोनों के क़बीले लड़ पड़े।

फ़िजार की दूसरी जंग

बनू-आमिर (एक क़बीला) की एक औरत उकाज़ के बाज़ार में बैठी हुई थी। क़ुरैश (एक क़बीला) के एक नवयुवक ने इसके चारों ओर चक्कर लगाना शुरू कर दिया और उससे चेहरा खोलने के लिए कहा। उसने इनकार कर दिया। (यहाँ स्पष्ट होता है कि उस ज़माने में भी शरीफ़ औरतें पर्दा किया करती थीं।) यह नवयुवक चुपके से उस औरत के पीछे बैठ गया और उसके तहबन्द में एक काँटा इस प्रकार लगा दिया कि जब वह उठी तो उसका पिछला हिस्सा खुल गया। इस पर सब लोग हँस पड़े। औरत ने अपने क़बीले बनू-आमिर के लोगों को पुकारा। वे हथियार लेकर आगे बढ़े। इधर इस नवयुवक ने बनू-किनाना (क़ुरैश-कबीले) को तलब कर लिया। वे आ गए और जंग शुरू हो गई।

फ़िजार की तीसरी जंग

बनू-आमिर के एक व्यक्ति ने बनू-किनाना के एक व्यक्ति को क़र्ज़ दिया था। वह उसके अदा करने में टालमटोल करने लगा तो दोनों क़बीले लड़ पड़े। कहा जाता है कि अब्दुल्लाह-बिन-जुदआन ने अपनी ओर से क़र्ज़ अदा किया तो यह जंग ख़त्म हुई।

फ़िजार की चौथी जंग

नोमान-बिन-मुनज़िर, हैरा क़बीले का सरदार, अपना तिजारती क़ाफ़िला, जिसमें ऊँटों पर कपड़े और ख़ुशबू का सामान होता, उकाज़ के

बाज़ार में भेजता ताकि ये चीज़ें वहाँ बेचकर प्राप्त पूँजी से ताइफ़ के रंगे हुए चमड़े ख़रीदे जाएँ। क़ाफ़िले को वह किसी अरब सरदार की निगरानी में भेजता ताकि उसकी हिफ़ाज़त हो सके। एक बार उसने क़ाफ़िला भेजने की तैयारी की तो उसके पास अरब के कुछ सरदार मौजूद थे। उनमें बनू-किनाना का 'बरास' और हवाज़िन (एक क़बीला) का 'उरवतुर-रिहाल' भी उपस्थित थे। बरास ने कहा कि मैं बनू-किनाना की ज़िम्मेदारी लेता हूँ कि वे क़ाफ़िले से छेड़छाड़ नहीं करेंगे। नोमान-बिन-मुनज़िर (व्यापारी) ने कहा कि मैं तो ऐसे व्यक्ति की तलाश में हूँ जो पूरे नज्द और तिहामा-वासियों की ओर से पनाह दे सके। इसपर उरवतुर-रिलाह ने कहा कि मैं पनाह दे सकता हूँ। बरास ने, जो किनाना क़बीले से था, कहा "क्या तुम किनाना की ओर से भी पनाह दोगे?" उरवतुर-रिहाल ने कहा, "हाँ! किनाना क्या, अरब की सारी आबादी की ओर से पनाह दे रहा हूँ।" इसपर बरास से उसकी तकरार हो गई। उरवतुर-रिहाल जब सफ़र से वापस होने लगा तो बरास भी उसके पीछे उसके क़त्ल के इरादे से निकल पड़ा। रास्ते में एक जगह उरवतुर-रिहाल ठहरा और शराब पीने लगा, उसे शराब में मस्त पाकर बरास ने उसे क़त्ल कर दिया। इसकी सूचना एक व्यक्ति ने किनाना के लोगों को उस समय दी जब वे उकाज़ में हवाज़िन के लोगों के साथ थे। किनाना के लोग वहाँ से निकल पड़े ताकि हरम की सीमा[1] के अन्दर पहुँच जाएँ, परन्तु हवाज़िन के लोगों को भी यह ख़बर मिल गई। उन्होंने किनाना का पीछा किया और हरम की सीमा से पहले ही उन्हें जा लिया। दोनों क़बीलों के बीच छः दिनों तक ख़ून-ख़राबा होता रहा। रिवायतों से पता चलता है कि अबू-तालिब (मुहम्मद सल्ल॰ के चाचा) किनाना की ओर से जंग में सम्मिलित थे। अल्लाह के रसूल मुहम्मद (सल्ल॰) भी साथ थे। उस समय आप (सल्ल॰) की उम्र 14-15 साल थी। इब्ने-सअद की रिवायत है कि आप (सल्ल॰) बीस साल की उम्र को

1. ख़ान-ए-काबा के आसपास का वह क्षेत्र जहाँ किसी प्राणी की हत्या करना वर्जित है, काबा के चारों ओर के ऐसे क्षेत्र हरम कहलाते हैं।

पहुँच चुके थे। जंग में जो तीर दुश्मन की ओर से आते और ज़मीन पर गिर जाते, आप (सल्ल॰) उन्हें उठाकर अपने क़बीले के लड़नेवालों को दे देते। अन्ततः यह जंग उत्बा-बिन-रबीआ की सुलह के आमन्त्रण पर ख़त्म हुई। इसमें क़बीला क़ैस के ज़्यादा आदमी मारे गए थे। क़ुरैश ने अतिरिक्त मक़तूलों (मरनेवालों) की दियत (हत्या का अर्थिक दण्ड) अदा की। कुछ रिवायतों से मालूम होता है कि उन्होंने दियत नहीं ली।

इब्ने सअद (तबक़ात 1/126-128 तबअ दारे-सादिर बैरूत) और इब्ने-हिशाम (अस-सीरतुन्-नबवीया 1/221-224 तबअ दारू, अहयाइत्-तुरासिल अरबी, बैरूत लुबनान 1994 ई॰) वग़ैरह ने सिर्फ़ उसी फ़िजार की जंग का ज़िक्र किया है जिसमें अल्लाह के नबी (सल्ल॰) की शिरकत हुई थी। सुहैली और मसऊदी वग़ैरह ने इन चारों का ज़िक्र किया है। इस वक्त पेशे-नज़र बुरहानुद्दीन हलबी की 'अल-सीरतुल-हलबीया 1/126-128 है। इसमें चारों जंगों की तफ़सील बयान हुई है।

समर्थक क़बीले

क़बीलों के बीच वर्चस्व एवं सत्ता के लिए कशमकश और शक्ति प्रर्दशन भी होता रहता था। इसके लिए कुछ क़बीले मिलकर एक गरोह बन जाते थे। उनके मुक़ाबले में दूसरे क़बीलों का गरोह वुजूद में आ जाता और वे एक-दूसरे के सहयोग के लिए समझौता करते। इन्हें हलीफ़ (समर्थक) कहा जाता।

हल्फ़ का अर्थ 'क़सम' उठाना है। दो पक्षों का इस बात पर दृढ़-प्रतिज्ञ होना कि उनके बीच एकता और सहमति रहेगी और वे हर हाल में एक-दूसरे का सहयोग और समर्थन करेंगे, इसे भी हल्फ़ कहा जाता है। ऐसा समझौता करने के बाद एक पक्ष दूसरे का हलीफ़ (समर्थक) कहलाता है। जाहिलियत के दौर में ख़ुज़ाआ क़बीले ने बनू-असद को हरम से बाहर निकाल दिया तो उसने तै क़बीले से दोस्ती और सहयोग का समझौता किया। इसी लिए असद और तै को 'हलीफ़ान' (एक-दूसरे के हलीफ़) कहा जाता था। इसके बाद असद

क़बीले ने फ़ज़ारह क़बीले से इसी प्रकार का समझौता कर लिया तो उन्हें भी हलीफ़ान कहा जाने लगा। (फ़िरोज़ाबादी, अल-क़ामूसुल-मुहीत, माद्दा ह-ल-फ़। इब्ने-मंज़ूर लिसानुल-अरब माद्दा ह-ल-फ़।)

कुसय्य-बिन-किलाब ने सही अर्थों में कुरैश को संगठित किया। ख़ुज़ाआ और बनू-बकूर आदि क़बीलों को मक्का-क्षेत्र से बाहर निकाल दिया और कुरैश को हरम (काबा) के चारों ओर बसा दिया। अपने कारनामों के कारण निस्सन्देह वे कुरैश के एक महान सरदार थे। उनके नेतृत्व को चुनौती देनेवाला कोई न था। मक्का पर उन्हीं का शासन था। उनके पास 'हिजाबा', 'सिक़ाया', 'रिफ़ादा', 'नदवा', और 'लिया' जैसे लगभग सभी प्रमुख पद थे।[1] (इब्ने-हिशाम अस्-सीरतुन्-नबवीया 1/161)

कुसय्य-बिन-किलाब के चार बेटे थे। अब्दुद-दार, अब्दे-मनाफ़, अब्दुल-उज़्ज़ा और अब्द (बाप के नाम पर उसका नाम भी कुसय्य था)। दो बेटियाँ : तख़मर और बर्रह थीं। कुसय्य के जीवन-काल में ही उनके

1. बैतुल्लाह (काबा) की चाभियों पर जिसका क़ब्ज़ा होता उसे 'हिजाबा' कहा जाता। हिजाबा जिसके लिए चाहता काबा का दरवाज़ा खोलता और जिसके लिए बन्द करना चाहता बन्द कर देता। ज़मज़म का पानी पिलाने और हाजियों की सेवा के काम को 'सिक़ाया' कहा जाता था। इसको बड़ा पुण्य समझा जाता था। अतः हज के दिनों में ज़मज़म को शुद्ध रूप में अथवा शहद या दूध या नबीज़ (खजूर का शर्बत) के साथ मिलाकर हाजियों को पिलाना एक अहम धार्मिक काम था। 'रिफ़ादा' का अर्थ है मेहमान-नवाज़ी। हज के ज़माने में हाजियों के खाने की व्यवस्था करना भी एक धार्मिक कर्त्तव्य समझा जाता था। इसके लिए कुरैश अपने माल में से एक निश्चित राशि कुसय्य के पास जमा करते थे। यह सिलसिला बाद में भी जारी रहा। 'नदवा' से तात्पर्य किसी कार्य का निर्णय लेने से पहले सबसे सलाह-मशविरा लेना है। कुसय्य ने ही दारुन-नदवा (विचार-विमर्श का घर) क़ायम किया था और वही इसके प्रधान थे। 'लिवा' अलम या झंडे को कहते हैं। जंग में झंडा उसी के हाथ में रहता जो क़बीले का सरदार होता। ये सभी प्रमुख पद एवं विभाग कुसय्य के पास थे।

बेटे अब्दे-मनाफ़ ने काफ़ी तरक़्क़ी की थी और लोगों में उनका सम्मान पाया जाता था। अब्दुल-उज़्ज़ा और अब्द (क़ुसय्य-बिन-क़ुसय्य) का भी यही हाल था। क़ुसय्य के बड़े बेटे अब्दुद-दार की समाज में यह हैसियत नहीं थी। क़ुसय्य ने अपनी ज़िन्दगी के आख़िरी दिनों में अब्दुद-दार से कहा कि मैं चाहता हूँ कि तुम्हें भी तुम्हारे भाइयों जैसी हैसियत प्राप्त हो। अतः क़ुसय्य ने अपने सभी पद अब्दुद-दार के हवाले कर दिए। क़ुसय्य के फ़ैसले का विरोध करने की किसी में हिम्मत नहीं थी। सभी भाइयों ने इस फ़ैसले को स्वीकार कर लिया और इसी पर अमल होने लगा। परन्तु भाइयों के बाद अब्दे-मनाफ़ की औलाद ने कहा कि क़ौम के अन्दर हमारी जो हैसियत है इस लिहाज़ से इन पदों के हम ज़्यादा हक़दार हैं। अब्दुद-दार की औलाद ने कहा कि ये पद अनिवार्य रूप से हमारे ही पास रहेंगे, क़ुसय्य के फ़ैसले को बदला नहीं जा सकता। कुछ क़बीलों ने अब्दे-मनाफ़ का साथ दिया और कुछ ने अब्दुद-दार का। कुछ क़बीलों ने इस विवाद से अलग रहना ही पसन्द किया।

बनू-अब्दे-मनाफ़ ने एक बड़े बर्तन में ख़ुशबू भरी और काबा के पास रख दिया। वे और उनके हलीफ़ (समर्थक) उसमें हाथ डालते और आपस में एक-दूसरे का सहयोग तथा साथ निभाने की प्रतिज्ञा करते और काबा पर अपना हाथ फेरते। यह प्रतिज्ञा को और दृढ़ बनाने का एक सूचक था। इन क़बीलों को 'मुतैयिबीन' कहा गया, यानी जिन्होंने ख़ुशबू का इस्तेमाल किया। दूसरी ओर बनू-अब्दुद-दार और उनके समर्थकों ने भी काबा के पास प्रतिज्ञा की कि वे हर हाल में एक-दूसरे का सहयोग करेंगे, और साथ नहीं छोड़ेंगे। उन्हें 'अहलाफ़' (हलफ़ उठानेवाले) कहा जाने लगा।

दोनों पक्षों ने जंग की तैयारी शुरू कर दी, परन्तु जल्द ही उन्हें एहसास हुआ कि वे आपस ही में एक-दूसरे को ख़त्म कर देंगे। इसपर उनके बीच सुलह हो गई, जिसके अनुसार अब्दे-मनाफ़ को 'सिक़ाया' और 'रिफ़ादा' के पद प्राप्त हुए और अब्दुद-दार 'हिजाबा', 'नदवा' और 'लिवा' के पद पर पूर्ववत बने रहे। (इब्ने-हिशाम, अस-सीरतुन-नबवीया

1/159-169, इब्ने-साद, अत-तबक़ातुल-कुबरा 1/66-73, तबरी, तारीखुल-उममि-वल-मुलूक 1/505-509, दारुल-कुतुबिल-इल्मीया, लुबनान 1997 ई०, इसके अतिरिक्त देखें, इब्ने-कसीर, अस-सीरतुन-नबवीया 1/94-102, दारुल-मअरिफ़ा, बैरूत लुबनान 1983 ई०)

सीरत (मुहम्मद (सल्ल०) की पवित्र जीवनी) की यह अहम घटना है कि मक्कावालों ने जब देखा कि अल्लाह के रसूल (सल्ल०) के साथियों को हबशा में पनाह मिल रही है, हज़रत हमज़ा (रज़ि०) और हज़रत उमर (रज़ि०) जैसे वीर एवं साहसी लोग आप (सल्ल०) पर ईमान लाकर मुसलमान हो गए और आपका साथ दे रहे हैं, इधर आपके चाचा अबू-तालिब आपके समर्थन और सहयोग से हाथ खींचनेवाले नहीं हैं, तो क़ुरैश के क़बीलों ने बनू-हाशिम और बनू-मुत्तलिब के ख़िलाफ़ बाक़ायदा मोर्चाबन्दी शुरू कर दी और उनके सामाजिक बायकाट का फैसला किया। इस मक़सद से एक समझौता-पत्र तैयार किया गया जिसमें फ़ैसला किया गया कि बनू-हाशिम और बनू-मुत्तलिब से शादी-विवाह, ख़रीद-फ़रोख़्त आदि का सम्बन्ध नहीं रखा जाएगा और उनसे मेल-जोल और सामाजिक सम्बन्ध समाप्त कर दिए जाएँगे। इस पत्र को काबा के बीच लटका दिया गया ताकि उसका सम्मान किया जाए और उसकी पूरी पाबन्दी की जाए। (इब्ने-हिशाम अस्-सीरतुन-नबवीया 1/388)

यह बायकाट दो-तीन साल जारी रहा। बाद में उन्हीं में से कुछ लोगों की कोशिश से यह ग़लत और ज़ुल्म पर आधारित समझौता ख़त्म हुआ। (इब्ने-हिशाम अस्-सीरतुन-नबवीया 1/402, इब्ने-सअद, अत-तबक़ातुल-कुबरा 1/208-210)

हिलफ़ुल-फ़ुज़ूल

कभी उच्च और मानवीय उद्देश्यों के लिए भी क़बीलों और उनकी विभिन्न शाख़ाओं के बीच समझौता होता था। ऐसा ही एक समझौता हिलफ़ुल-फ़ुज़ूल का समझौता था। फ़िजार की जंग के चार माह बाद ज़ुबैर-बिन-अब्दुल-मुत्तलिब की प्रेरणा पर बनू-हाशिम, बनू-अब्दुल-

मुत्तलिब, बनू-ज़ुहरा-बिन-किलाब, बनू-असद-बिन-अब्दुल-उज़्ज़ा और बनू-तैम-बिन-मुर्रह, अब्दुल्लाह-बिन-जुदआन के मकान पर एकत्र हुए और क़सम खाकर प्रण किया कि ज़ालिम कोई भी हो, हम सब उसके ख़िलाफ़ खड़े होंगे और एक होकर मज़लूम का साथ देंगे, चाहे वह मक्का का हो या मक्का से बाहर का हो। हम उस वक़्त तक ज़ालिम से लड़ेंगे जब तक कि मज़लूम का हक़ उसे मिल न जाए। इस समझौते पर हम सब उस समय तक अमल करते रहेंगे जब तक कि समुद्र अपने झाग को तर रखे और 'सबीर' एवं 'हिरा' की पहाड़ियाँ अपनी जगह क़ायम रहें (यानी हमेशा इस समझौते पर अमल करेंगे)। साथ ही हम दूसरे की आर्थिक मदद भी करते रहेंगे। अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) उस सभा में उपस्थित थे जब यह समझौता किया जा रहा था। यह घटना मुहम्मद (सल्ल॰) के नबी बनाए जाने से पहले की है। नुबूवत प्राप्त होने के बाद आप (सल्ल॰) ने इस पाकीज़ा और आदर्श समझौते का ज़िक्र करते हुए फ़रमाया—

لقد شهدت فی دار عبد الله بن جدعان حلفا ما احب ان لی به حمر النعم ولو ادعی به فی الاسلام لاجبت۔

"मैं अब्दुल्लाह-बिन-जुदआन के घर में एक ऐसे समझौते में मौजूद था कि उसके मुक़ाबले में सुर्ख़-ऊँट भी पसन्द नहीं करूँगा। यदि इस्लाम में भी इसकी दावत दी जाए तो मैं इसे क़बूल करूँगा।"

(इब्ने-हिशाम अस्-सीरतुन-नबवीया 1/169-171, इब्ने- सअद, अत-तबक़ातुल-कुबरा 1/128-129, इसके अतिरिक्त देखें इब्ने-कसीर, अस-सीरतुन-नबवीया 1/257-262; हिलफ़ुल-फ़ुज़ूल का संक्षिप्त विवरण मेरी किताब 'इस्लाम में मानव सेवा' में भी मौजूद है। हिलफ़ुल-फ़ुज़ूल पर विस्तृत विवरण के लिए देखें डा॰ रज़िउल इस्लाम नदवी का लेख सःमाही तहक़ीक़ाते-इस्लामी अलीगढ़, अप्रेल-जून 2002।)

इस्लाम के सुधारात्मक क़ार्य

अरब के ख़ानदानी और क़बाइली निज़ाम की यह एक बहुत ही संक्षिप्त-सी तस्वीर है। इसमें कुछ ख़ूबियाँ भी नज़र आती हैं, लेकिन इसमें ख़ूबियों से ज़्यादा ख़ामियाँ और ख़राबियाँ आ गई थीं। इस्लाम का कारनामा यह है कि इसने इस क़बाइली निज़ाम में बुनियादी तब्दीलियाँ कीं और इसे सही रुख़ दिया।

वैवाहिक सम्बन्ध और रक्त-सम्बन्ध ख़ानदान की बुनियाद हैं

इस्लाम ने ख़ानदान की बुनियाद वैध वैवाहिक सम्बन्ध और रक्त-सम्बन्ध पर रखी। उसने कहा कि उसके बिना कोई व्यक्ति ख़ानदान का सदस्य नहीं माना जाएगा और उसे ख़ानदान के अधिकार प्राप्त नहीं होंगे।

भाईचारे की सीमा

[इस्लामी-इतिहास पर नज़र रखनेवाले जानते हैं कि मक्का के मुसलमान हिजरत करके जब मदीना आए तो ख़ाली हाथ थे। अपनी ज़मीन-जायदाद की क़ुर्बानी देकर अल्लाह के आदेश का पालन करते हुए वे मदीना आए थे। मदीना में उनके जीवन-यापन की व्यवस्था जिस तरीक़े से अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने की वह इतिहास के पन्नों में स्वर्णाक्षरों में अंकित है। (सम्पादक)]

नबी (सल्ल॰) ने हिजरत के तुरन्त बाद मुहाजिर (हिजरत करके आनेवाले) और अनसार (मदद करनेवाले, मदीना के मूलवासी) के बीच बेमिसाल भाईचारा स्थापित कर दिया। प्रत्येक अनसार को एक मुहाजिर भाई का ज़िम्मा दे दिया गया। इसके तहत मुहाजिरों के साथ ग़ैर-मामूली त्याग, बलिदान और सद्व्यवहार का रवैया अपनाया गया। अनसार की जायदाद में उनका क़ानूनी हक़ भी तस्लीम किया गया और वे उनके वारिस (उत्तराधिकारी) क़रार दिए गए। मुहाजिरों की हालत को देखते

हुए यह एक आदर्श स्थिति थी परन्तु यह एक पहलू से ख़ानदान में बाहर के व्यक्ति का सम्मिलित होना था और इससे ख़ानदान के अधिकार प्रभावित हो रहे थे। अतः मुहाज़िर और अनसार के बीच भाईचारा की क़ानूनी हैसियत ख़त्म कर दी गई। अतः क़ुरआन में कहा गया है–

وَأُولُوا الْأَرْحَامِ بَعْضُهُمْ أَوْلَىٰ بِبَعْضٍ فِي كِتَابِ اللَّهِ ۗ إِنَّ اللَّهَ بِكُلِّ شَيْءٍ عَلِيمٌ ﴿٧٥﴾

"और रिश्तेदार, अल्लाह की किताब में एक-दूसरे की मीरास के (दूसरों की अपेक्षा) ज़्यादा हक़दार हैं। बेशक अल्लाह हर चीज़ को जानता है।" (क़ुरआन, 8:75)

इस विषय को और स्पष्ट करते हुए एक अन्य स्थान पर कहा गया है–

وَأُولُوا الْأَرْحَامِ بَعْضُهُمْ أَوْلَىٰ بِبَعْضٍ فِي كِتَابِ اللَّهِ مِنَ الْمُؤْمِنِينَ وَالْمُهَاجِرِينَ إِلَّا أَنْ تَفْعَلُوا إِلَىٰ أَوْلِيَائِكُمْ مَعْرُوفًا ۚ كَانَ ذَٰلِكَ فِي الْكِتَابِ مَسْطُورًا ﴿٦﴾

"और रिश्तेदार, अल्लाह के क़ानून में, दूसरे ईमानवालों और मुहाजिरों से ज़्यादा एक-दूसरे से क़रीब हैं। हाँ, यदि तुम अपने रफ़ीक़ों (मित्रों/मुहाजिर भाइयों) के साथ अच्छा सुलूक करना चाहो (तो इसमें कोई चीज़ बाधक नहीं है)। यह अल्लाह की किताब में लिखा हुआ है।"

(क़ुरआन, 33:6)

मुतबन्ना (दत्तक-पुत्र) नहीं बनाया जा सकता

इस उसूल के तहत दत्तक-पुत्र की प्रथा भी ख़त्म कर दी गई। इस प्रथा को क़ानूनी रूप से रोक दिया गया कि कोई व्यक्ति किसी दूसरे के बच्चे को गोद लेकर उसे अपनी औलाद की तरह अधिकार दे दे। क़ुरआन ने स्पष्ट शब्दों मे कहा–

وَمَا جَعَلَ أَدْعِيَاءَكُمْ أَبْنَاءَكُمْ ۚ ذَٰلِكُمْ قَوْلُكُمْ بِأَفْوَاهِكُمْ ۖ وَاللَّهُ يَقُولُ

الْحَقَّ وَهُوَ يَهْدِي السَّبِيلَ ۝٤ اُدْعُوهُمْ لِآبَائِهِمْ هُوَ أَقْسَطُ عِنْدَ اللَّهِ ۚ فَإِنْ
لَّمْ تَعْلَمُوا آبَاءَهُمْ فَإِخْوَانُكُمْ فِي الدِّينِ وَمَوَالِيكُمْ ۚ وَلَيْسَ عَلَيْكُمْ
جُنَاحٌ فِيمَا أَخْطَأْتُمْ بِهِ وَلَٰكِنْ مَا تَعَمَّدَتْ قُلُوبُكُمْ ۚ وَكَانَ اللَّهُ غَفُورًا رَحِيمًا ۝٥

"अल्लाह ने तुम्हारे मुँह-बोले बेटों को तुम्हारे (वास्तविक) बेटे नहीं बना दिए हैं। यह तो केवल तुम्हारे मुँह से निकली हुई बात है। अल्लाह हक़ (सत्य वचन) कहता है और वही सीधा रास्ता दिखाता है। उन्हें उनके बापों के नाम से जोड़कर पुकारो। अल्लाह के निकट यही सही तरीक़ा है। यदि तुम्हें इनके बापों का इल्म न हो तो वे तुम्हारे दीनी भाई और रफ़ीक़ (दोस्त) हैं। तुमसे (इस मामले में) जो चूक हो जाए उसपर कोई गुनाह नहीं। हाँ, जो बात तुम्हारे दिल के इरादे से जान-बूझकर निकले (उसकी पूछगच्छ होगी), और अल्लाह क्षमा करने वाला, दयावान है।"

(क़ुरआन, 33:4,5)

इस आयत से स्पष्ट है कि दत्तक-पुत्र की कोई क़ानूनी हैसियत नहीं है। वह अपने असली बाप के नाम से जाना जाएगा। जिसके वंश अथवा पिता की जानकारी न हो, वह दीनी भाई और दोस्त समझा जाएगा और उसके साथ अच्छा व्यवहार किया जाएगा। इस प्रकार यह उसूल तय हुआ कि जो किसी का असली बेटा नहीं है, उसे किसी भी स्थिति में सन्तान (औलाद) के अधिकार प्राप्त न होंगे।

क़बीलों के मध्य एकता

अरब के क़बीले एक-दूसरे के विरोधी बन गए थे। उनके बीच दुश्मनियाँ पनप रही थीं। छोटी-छोटी बातों पर एक-दूसरे के ख़िलाफ़ तलवारें निकल आतीं और ख़ून-ख़राबा शुरू हो जाता। इस्लाम ने इन विरोधी एवं संघर्षशील क़बीलों में परस्पर प्रेम एवं भाईचारे की भावना जागृत की तथा उन सबको जोड़कर एक 'मिल्लत' (समुदाय) बनाया

और वे सभी अपने मतभेद और विवाद को भूलकर आपस में दूध-शकर की तरह घुल-मिल गए। इस महान उपकार का क़ुरआन में इन शब्दों में ज़िक्र हुआ है–

وَاذْكُرُوا نِعْمَتَ اللهِ عَلَيْكُمْ اِذْ كُنْتُمْ اَعْدَآءً فَاَلَّفَ بَيْنَ قُلُوْبِكُمْ فَاَصْبَحْتُمْ
بِنِعْمَتِهٖٓ اِخْوَانًا ۚ وَكُنْتُمْ عَلٰى شَفَا حُفْرَةٍ مِّنَ النَّارِ فَاَنْقَذَكُمْ مِّنْهَا ۗ

"तुम अल्लाह के उस एहसान (उपकार) को याद करो जबकि तुम एक-दूसरे के दुश्मन थे, अल्लाह ने तुम्हारे दिलों को मुहब्बत से जोड़ दिया और तुम उसके फ़ज़्ल (कृपा) से भाई-भाई बन गए, और तुम आग के गड्ढे के किनारे पहुँच चुके थे, अल्लाह ने तुम्हें उससे बचा लिया।"

(क़ुरआन, 3:103)

यह आयत अरब के सभी क़बीलों पर चरितार्थ होती है, परन्तु मूलतः इसमें मदीना के 'औस' और 'ख़ज़रज' क़बीलों का ख़ाका खींचा गया है। उनके बीच बार-बार जंग के शोले भड़कते रहते थे। बुआस की जंग, दामिस की जंग और हातिब की जंग इसका प्रमाण हैं। हिजरत से पूर्व हज के मौसम में अल्लाह के रसूल मुहम्मद (सल्ल॰) जिस प्रकार दूसरे क़बीलों के सामने इस्लाम की दावत पेश फ़रमाते थे, उसी प्रकार अक़बा नामक स्थान पर ख़ज़रज के प्रतिनिधिमंडल के समक्ष इस्लाम प्रस्तुत किया। उन्होंने इसे स्वीकर करते हुए कहा कि हमारी क़ौम के बीच जिस प्रकार की शत्रुता है वह किसी अन्य क़ौम में नहीं होगी। अल्लाह आपके माध्यम से शायद एकता पैदा कर दे। हम उसके सामने आपका पैग़ाम प्रस्तुत करेंगे और जिस दीन (मज़हब) को हमने क़बूल किया है, उसे क़बूल करने की दावत उन्हें भी देंगे। यदि अल्लाह इसपर हम सब को संगठित और एकजुट कर दे तो हमारे बीच आपसे ज़्यादा सम्मानित एवं प्रतिष्ठित कोई दूसरा व्यक्ति न होगा।

(इब्ने-हिशाम अस्-सीरतुन-नबवीया 2/42)

इससे अन्दाज़ा किया जा सकता है कि औस और ख़ज़रज क़बीलों की क्या स्थिति थी। ज़मख़शरी और दूसरे मुफ़स्सिरीन (क़ुरआन के व्याख्याकारों) ने लिखा है कि औस और ख़ज़रज एक माँ-बाप की नस्ल से थे, परंन्तु उनके बीच दुश्मनी का सिलसिला एक सौ बीस (120) वर्ष से जारी था। अन्ततः इस्लाम ने इस आग को बुझाया और अल्लाह के रसूल मुहम्मद (सल्ल॰) के द्वारा उनके बीच प्यार-मुहब्बत क़ायम हुई।

(ज़मख़-शरी अल-कश्शाफ़ अन-हक़ायिक़ित्-तनज़ील 1/387)

विश्वव्यापी उम्मत अस्तित्व में आ गई

क़बाइली व्यवस्था एक संकीर्ण दायरे में सीमित थी। वह उसी दायरे (परिधि) में अपने मामलों और समस्याओं को सुलझाने का प्रयास करती थी। इससे बाहर की दुनिया को वह देख नहीं पा रही थी। इस्लाम ने उसे विचार एवं दृष्टि के इस संकीर्ण मार्ग से निकाला और उसे मानवता की एक व्यापक परिकल्पना प्रदान की। उसने बताया कि पूरी दुनिया के इनसान पेशे, क्षेत्र, वंश, भाषा एवं रंग-रूप की भिन्नता के बावुजूद एक हैं, इसलिए कि उनकी अस्ल (मूल) एक है, वे सभी अल्लाह के बन्दे और एक माँ-बाप की औलाद हैं। ख़ानदान और क़बीले केवल पहचान का ज़रीआ हैं। इसके आधार पर मानव-जाति को बाँटा नहीं जा सकता। क़ुरआन की स्पष्ट घोषणा है—

يٰٓاَيُّهَا النَّاسُ اِنَّا خَلَقْنٰكُمْ مِّنْ ذَكَرٍ وَّاُنْثٰى وَجَعَلْنٰكُمْ شُعُوْبًا وَّقَبَاۗىِٕلَ
لِتَعَارَفُوْا ۭ اِنَّ اَكْرَمَكُمْ عِنْدَ اللّٰهِ اَتْقٰىكُمْ ۭ اِنَّ اللّٰهَ عَلِيْمٌ خَبِيْرٌ ﴿١٣﴾

"ऐ लोगो! बेशक हमने तुम्हें एक मर्द और एक औरत से पैदा किया और तुम्हें क़ौमों और क़बीलों में तक़सीम कर दिया, ताकि एक-दूसरे को पहचान सको। बेशक तुममें ज़्यादा इज़्ज़तवाला अल्लाह के निकट वह है जो सबसे ज़्यादा तक़वावाला (अल्लाह से डरनेवाला) है। यक़ीनन

अल्लाह जाननेवाला और बाख़बर है।" (क़ुरआन, 49:13)

जब सारे इनसान एक ही हैं तो उनके भलाई और कल्याण का रास्ता भी एक ही हो सकता है। वह रास्ता है अल्लाह की इबादत तथा आज्ञाकारिता का। उसी रास्ते की ओर क़ुरआन दावत देता है—

يَاَيُّهَا النَّاسُ اعْبُدُوْا رَبَّكُمُ الَّذِىْ خَلَقَكُمْ وَالَّذِيْنَ مِنْ قَبْلِكُمْ لَعَلَّكُمْ تَتَّقُوْنَ ۝ الَّذِىْ جَعَلَ لَكُمُ الْاَرْضَ فِرَاشًا وَّالسَّمَآءَ بِنَآءً ۠ وَّاَنْزَلَ مِنَ السَّمَآءِ مَآءً فَاَخْرَجَ بِهٖ مِنَ الثَّمَرٰتِ رِزْقًا لَّكُمْ ۚ فَلَا تَجْعَلُوْا لِلّٰهِ اَنْدَادًا وَّاَنْتُمْ تَعْلَمُوْنَ ۝

"ऐ लोगो! अपने रब की इबादत करो, जिसने तुम्हें और तुमसे पहले के लोगों को पैदा किया, ताकि तुम तक़वे की ज़िन्दगी गुज़ार सको। (तुम्हारा रब) जिसने तुम्हारे लिए ज़मीन को फ़र्श और आसमान को छत बनाया और आसमान से पानी बरसाया और उससे तुम्हारे खाने के लिए फल पैदा किए। अतः किसी को अल्लाह के मुक़ाबले में खड़ा न करो जबकि तुम जानते हो (कि कोई दूसरा उसका समकक्ष नहीं है)।" (क़ुरआन, 2:21-22)

इस प्रकार इस्लाम ने उन क़बीलों के बीच मेल-जोल और एकता पैदा की जो परस्पर मार-काट और लड़ाई-झगड़े में लिप्त रहा करते थे। उनके मतभेद और बिखराव को दूर किया और उन्हें एकता की लड़ी में पिरोकर एक 'उम्मत' की सोच को विकसित किया। जो क़बीले बहुत ही सीमित दायरे में सोचने और केवल अपना हित देखने के आदी (अभ्यस्त) थे, उन्हें एक व्यापक एवं विश्वव्यापी दृष्टिकोण प्रदान किया और उन्हें सारी दुनिया के इमाम (लीडर) और रहनुमा (पथ-प्रदर्शक) के रूप में खड़ा किया। इसके नतीजे में वह कल्याणकारी इंक़िलाब हुआ, जिसकी मिसाल इतिहास के पन्नों में तलाश करने से भी नहीं मिलती।

इस्लामी ख़ानदान की रूपरेखा

इस्लामी ख़ानदान

अल्लाह के रसूल उसके चुने हुए तथा प्रिय बन्दे होते हैं। उनकी ज़िन्दगी तक़्वा (ईशभय) और ख़ुदातरसी (ईशभक्ति) के मामले में दुनिया के लिए नमूना होती है। क़ुरआन ने स्पष्ट किया है कि उन्होंने ख़ानदानी ज़िन्दगी गुज़ारी और उसके तक़ाज़े पूरे किए। इर्शाद है–

وَلَقَدْ أَرْسَلْنَا رُسُلًا مِّن قَبْلِكَ وَجَعَلْنَا لَهُمْ أَزْوَاجًا وَذُرِّيَّةً

"हमने तुमसे पहले कितने ही रसूल भेजे और उन्हें बीवियाँ और औलाद दी थी।" (क़ुरआन, 13:38)

क़ुरआन ने अनेक पैग़म्बरों की बीवियों का, उनकी सन्तति एवं परिवार के अन्य सदस्यों का ज़िक्र किया है। इससे उन पैग़म्बरों के अपने परिवारवालों से सम्बन्ध, उनकी मुहब्बत, हमदर्दी, निष्ठा और उनके लिए भलाई का जज़्बा होना, इन सब चीज़ों का ख़ाका स्पष्ट हो जाता है। साथ ही परिवारवालों का पैग़म्बरों के साथ रवैया और उनके समर्थन अथवा विरोध की तस्वीर निगाहों के सामने आ जाती है। इन सभी पहलुओं से अन्तिम पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल॰) और आपकी पत्नियों तथा औलाद का ज़िक्र भी क़ुरआन में मौजूद है।

यहाँ एक सवाल उभरता है। वह यह कि अल्लाह के पैग़म्बरों ने क्यों पारिवारिक ज़िन्दगी गुज़ारी और उसकी समस्याओं और उलझनों से दूर रहकर अल्लाह की इबादत में क्यों नहीं लग गए? इसका जवाब यह है कि पारिवारिक ज़िन्दगी से दीन और अख़लाक़ (मज़हब और चरित्र) को जो ऊँचाई मिलती है और हमदर्दी, सहयोग तथा भलाई चाहने के जो पाकीज़ा जज़्बात पनपते एवं विकसित होते हैं, आत्मसंयम एवं सुधार-प्रशिक्षण के जो अवसर परिवार में प्राप्त होते हैं, वे किसी और ज़रीए से हासिल नहीं होते।

ख़ानदान की मज़हबी हैसियत

इसका मतलब यह है कि परिवार केवल सामाजिक संस्था ही नहीं है बल्कि उसे धार्मिक एवं नैतिक हैसियत भी प्राप्त है। जो व्यक्ति पारिवारिक ज़िन्दगी गुज़ारता है, वह वास्तव में पैग़म्बरों के तरीक़े पर चलता है और अपने चरित्र (नैतिक व्यवहार) को इस माध्यम से बुलन्द करता है।

पारिवारिक व्यवस्था की बुनियादें

इस्लाम ने सामाजिक ज़िन्दगी में ख़ानदान को बुनियादी अहमियत दी है और जिस प्रकार के परिवार को वह मूर्त-रूप देना चाहता है, उसकी रूपरेखा स्पष्ट की है। उसने लैंगिक सम्बन्ध, दाम्पत्य जीवन, उसकी ज़िम्मेदारी, उसकी समस्याएँ, परिवारवालों से सम्बन्ध, उनके कर्त्तव्य एवं अधिकार तथा इससे सम्बन्धित अन्य मामलों के सिलसिले में विस्तारपूर्वक दिशा-निर्देश दिए हैं और अपने माननेवालों को इनका पाबन्द (वचन-बद्ध) बनाया है।

परिवार-व्यवस्था में तीन बातों को बुनियादी अहमियत प्राप्त है—

1. लैंगिक व्यवहार : परिवार की बुनियाद लैंगिक सम्बन्धों पर आधारित है। इसके सम्बन्ध में इनसान जो रवैया (दृष्टिकोण) अपनाएगा, उसी प्रकार का परिवार अस्तित्व में आएगा।
2. दाम्पत्य सम्बन्ध : पति-पत्नी के सम्बन्ध न्याय पर आधारित हों और उनके बीच निष्ठा, प्रेम एवं सद्व्यवहार का वातावरण हो तो उनकी ज़िन्दगी ख़ुशगवार होगी। परन्तु यह सम्बन्ध कशमकश और ज़ुल्म-ज़्यादती का शिकार हो तो दोनों की ज़िन्दगियाँ पारिवारिक सुख-शांति से वंचित रहेंगी। साथ ही उनके सम्बन्धों के अच्छे अथवा बुरे प्रभाव पूरी परिवार-व्यवस्था पर पड़ेंगे।
3. रिश्तेदारों के अधिकार एवं कर्त्तव्य : परिवार केवल पति-पत्नी और बच्चों का नाम नहीं है, बल्कि इसका दायरा व्यापक एवं विस्तृत है

और इसकी नैतिक एवं क़ानूनी अपेक्षाएँ हैं जिनका पूरा होना ज़रूरी है, अन्यथा परिवार अपनी सार्थकता खो देगा।

आगे के पृष्ठों में इन तीनों बिन्दुओं पर इस्लाम का दृष्टिकोण स्पष्ट करने की कोशिश की जाएगी।

उचित लैंगिक व्यवहार

परिवार केवल पुरुषों अथवा केवल महिलाओं के समूह का नाम नहीं है, बल्कि इसके मूर्त-रूप लेने और स्थापित होने में पुरुष एवं महिला दोनों को अपनी भूमिका निभानी पड़ती है। यदि किसी समाज में कुछ मर्द या कुछ औरतें परस्पर मिल-जुलकर ज़िन्दगी गुज़ारने लगें और अप्राकृतिक तरीक़े से अपनी इच्छाएँ पूरी करने लगें तो इसे परिवार नहीं कहा जाएगा। इस समय पश्चिम में समलैंगिकता (Homo-sexuality) का जो रुझान तेज़ी से फैल रहा है, वह परिवार-व्यवस्था के पतन और टूट-फूट का बड़ा कारण बन रहा है। इसमें एक मर्द दूसरे मर्द के साथ और एक औरत दूसरी औरत के साथ ज़िन्दगी गुज़ारने लगते हैं। यही उनका घर और परिवार होता है और इसमें एक-दूसरे के अधिकार भी निर्धारित कर लिए गए हैं। समलैंगिकता के दुष्परिणाम को नज़रअन्दाज़ कर दें फिर भी यह जीवन-शैली परिवार के उद्देश्यों की पूर्ति तो क़तई नहीं करती।

लैंगिक सम्बन्ध की अहमियत

ख़ानदान की शुरुआत पुरुष एवं स्त्री के लैंगिक सम्बन्ध से होती है। इसलिए इसके गठन में इसे बुनियादी हैसियत प्राप्त है। इस सम्बन्ध के बारे में दो दृष्टिकोण पाए जाते हैं। एक दृष्टिकोण तो संन्यास का है और दूसरा स्वच्छन्द यौनाचार का। ये दोनों ही दृष्टिकोण अप्राकृतिक एवं असन्तुलित हैं।

संन्यास : लैंगिक सम्बन्धों का विरोधी

संन्यास लैंगिक एवं काम-भावनाओं को दबाने और कुचलने की शिक्षा देता है तथा इसे आध्यात्मिक उन्नति का साधन मानता है, परन्तु यह इनसान की फ़ितरत के ख़िलाफ़ है। इस सिद्धान्त पर हज़ारों-लाखों इनसानों में से शायद दो-एक ही मुश्किल से अमल कर सकते हैं।

इनसान के अन्दर काम-भावनाएँ इतनी प्रबल होती हैं कि वह इस प्रकार के प्रतिबन्ध स्वीकार नहीं कर सकता। उसके सामने इस भावना की तृप्ति के सही मार्ग अवरुद्ध हों तो वह ग़लत और अवैध मार्ग पर चल पड़ेगा। संन्यास वास्तव में इनसान की स्वाभाविक अपेक्षाओं और माँगों से दूर भागने की एक शक्ल है, जिसे मज़हब का नाम दे दिया गया है। इस सिद्धान्त के आधार पर किसी समाज का निर्माण असम्भव है।

स्वच्छन्द यौनाचार के नुक़सान

दूसरा दृष्टिकोण स्वच्छन्दता का है। यह कामतृप्ति के लिए पूरी आज़ादी चाहता है और किसी अंकुश और प्रतिबन्ध का क़ायल नहीं है। यह व्यक्ति एवं समाज दोनों के लिए अत्यन्त हानिकारक है। इससे इनसान की शारीरिक और मानसिक शक्तियाँ बुरी तरह प्रभावित होती हैं और वह विभिन्न बीमारियों से ग्रस्त होने और बरबादी की ओर बढ़ने लगता है। यह समाज को लैंगिक भटकाव एवं आवारगी की ओर ले जाता है। इसमें आदमी लैंगिक सुख तो प्राप्त करता है, परन्तु इसके नतीजे में पैदा होनेवाली सन्तान को औरत के सिर डालकर स्वयं को अलग कर लेता है। कभी-कभी तो स्त्री-पुरुष दोनों ही ऐसे नवजात शिशुओं से दामन बचाकर इन्हें किसी समाजसेवी संस्था, या दूसरे शब्दों में राज्य के हवाले कर देते हैं। ये संस्थाएँ बच्चे की भौतिक आवश्यकताओं को तो किसी हद तक पूरी कर सकती हैं, परन्तु उस मुहब्बत से ख़ाली होती हैं जो माँ-बाप के सीने में मचल रही होती है और सन्तान में संचारित होती रहती हैं। सन्तान की ज़िम्मेदारी से बचने के लिए पश्चिम में सन्तानहीन परिवार (Childless Family) का रुझान बढ़ता जा रहा है। इसके दुष्परिणाम बिल्कुल स्पष्ट हैं। एक यह कि आदमी के अन्दर ज़िम्मेदारियों से बचने और व्यक्तिगत सुख प्राप्ति का मिज़ाज पैदा होता है और वह किसी भी सामाजिक एवं नागरिक ज़िम्मेदारी को क़बूल करने के लिए तैयार नहीं होता। दूसरे यह कि यदि सन्तान के बग़ैर ज़िन्दगी गुज़ारने का रुझान आम हो तो आबादी में

निश्चित रूप से कमी होगी, जिससे समाज मानव-शक्ति से वंचित होता चला जाएगा और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे बाहर के लोगों की मदद लेनी होगी।

विवाह कामतृप्ति का वैध तरीक़ा

इस्लाम संन्यास और स्वच्छन्द यौनाचार दोनों का विरोधी है। काम-भावना उसके निकट एक स्वाभाविक भावना है, इसकी तृप्ति आवश्यक है। हाँ, उसका आग्रह है कि वैध तरीक़े से हो। इसके लिए नाजाइज़ और अवैध तरीक़े अपनाना इस्लाम के निकट वर्जित और अवैध है। इसे वह व्यभिचार क़रार देता है और इसकी कठोर सज़ा तजवीज़ करता है। वह समाज को व्यभिचार और उसके लिए प्रेरित करनेवाले कारकों से पवित्र रखना चाहता है। वह ईमानवालों की एक विशेषता यह बयान करता है–

وَالَّذِينَ هُمْ لِفُرُوجِهِمْ حٰفِظُونَ ۝٥ إِلَّا عَلَىٰ أَزْوَاجِهِمْ أَوْ مَا مَلَكَتْ أَيْمَانُهُمْ فَإِنَّهُمْ غَيْرُ مَلُومِينَ ۝٦ فَمَنِ ابْتَغَىٰ وَرَآءَ ذٰلِكَ فَأُولٰٓئِكَ هُمُ الْعٰدُونَ ۝٧

"वे, जो अपनी शर्मगाहों (गुप्तांगों) की हिफ़ाज़त करते हैं, सिवाय अपनी बीवियों और उन औरतों से जो उनकी मिल्कियत में हैं, यानी बाँदियों से (अपनी कामेच्छा पूरी करते हैं), जो लोग इसके अतिरिक्त कोई और तरीक़ा तलाश करें तो ये ही सीमा से बढ़नेवाले हैं।"

(क़ुरआन, 23:5-7)

उपरोक्त आयतों में कामतृप्ति के दो जाइज़ तरीक़े बयान हुए हैं। वे हैं पत्नियों अथवा बाँदियों (लौंडियों) के द्वारा कामतृप्ति प्राप्त करना। वर्तमान समय में व्यवहारतः बाँदियों और लौंडियों का अस्तित्त्व नहीं है। यदि कोई व्यक्ति बाँदी रखना चाहे तो भी नहीं रख सकता। अतः अब

पत्नियों से सम्बन्ध रखना एक जाइज़ सूरत रह गई है।

निकाह (विवाह) औरत को दाम्पत्य सम्बन्ध में लाने का जाइज़ तरीक़ा है। निकाह एक वचन एवं प्रतिज्ञा है जो मर्द और औरत की स्वतन्त्र इच्छा से वुजूद में आती है। इसमें किसी के साथ दबाव एवं ज़्यादती की बात नहीं होती। यदि किसी नासमझ अथवा नाबालिग़ लड़की का निकाह हो जाए तो बालिग़ होने के बाद वह अपनी पसन्द, इच्छा एवं अधिकार का इस्तेमाल कर सकती है।

निकाह की क़ानूनी हैसियत

निकाह को कुछ फ़ुक़हा (इस्लामी विधान के विद्वान) ने सुन्नत कहा है। कुछ विद्वानों के अनुसार यह मुस्तहब और पसन्दीदा है। कुछ इसे सुन्नते-मुअक्कदा (अर्थात् ऐसी सुन्नत जिसपर ज़रूर अमल करना चाहिए) और अनिवार्य बताते हैं, परन्तु यदि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाए कि व्यभिचार और दुष्कर्म में लिप्त हो जाने का ख़तरा हो और व्यक्ति आर्थिक दृष्टि से दाम्पत्य जीवन के उत्तरदायित्व उठा सकने में सक्षम हो तो निकाह (विवाह) ऐसे व्यक्ति के लिए वाजिब (अत्यन्त अनिवार्य) हो जाएगा। ऐसे व्यक्ति को यथाशीघ्र निकाह कर लेना चाहिए।

समाज निकाह में मदद करे

इस्लाम ने समाज को निर्देश दिया है कि वह अविवाहित लोगों की शादी की व्यवस्था करे और इस सम्बन्ध में उनके साथ सहयोग करे, ताकि कोई व्यक्ति केवल संसाधनों की कमी के कारण तनहाई की ज़िन्दगी गुज़ारने अर्थात् अविवाहित रहने पर मजबूर न हो जाए। क़ुरआन में कहा गया है—

وَاَنْكِحُوا الْاَيَامٰى مِنْكُمْ وَالصّٰلِحِيْنَ مِنْ عِبَادِكُمْ وَاِمَآئِكُمْ ۚ اِنْ يَّكُوْنُوْا
فُقَرَآءَ يُغْنِهِمُ اللّٰهُ مِنْ فَضْلِهٖ ۗ وَاللّٰهُ وَاسِعٌ عَلِيْمٌ

"और निकाह करो अपने में से उनका जो अविवाहित हैं,

इसी प्रकार अपने ग़ुलामों और लौंडियों में से उनका जो नेक और सालेह हैं (और एक-दूसरे के अधिकारों को पूरा कर सकते हैं)। यदि वे निर्धन हैं तो अल्लाह अपनी कृपा से उन्हें ग़नी (समृद्ध) बना देगा। अल्लाह समाई वाला और सर्वज्ञ है।" (क़ुरआन, 24:32)

अवैध लैंगिक सम्बन्ध का निषेध

इस्लाम इस बात को नाजाइज़ ठहराता है कि किसी भी मर्द और औरत के बीच गुप्त रूप से लैंगिक सम्बन्ध स्थापित हो जाए, उनके अन्दर अपराधबोध पनपता और बढ़ता रहे और वे अपनी ज़िम्मेदारियों से बचने की कोशिश करें। जो औरतें आदमी के लिए मुहर्रमात (ऐसी औरतें जिनसे निकाह हराम है) हैं, उनका उल्लेख करने के बाद फ़रमाया—

وَاُحِلَّ لَكُمۡ مَّا وَرَآءَ ذٰلِكُمۡ اَنۡ تَبۡتَغُوۡا بِاَمۡوَالِكُمۡ مُّحۡصِنِيۡنَ غَيۡرَ مُسٰفِحِيۡنَ

"और हलाल कर दी गई हैं तुम्हारे लिए उनके सिवा दूसरी औरतें, इस प्रकार कि तुम उन्हें माल (महर) के ज़रीए से तलब करो, निकाह में लाने के लिए, न कि दुष्कर्म के लिए।" (क़ुरआन, 4:24)

निकाह का एलान

इस्लाम यह चाहता है कि निकाह का एलान हो और सबके सामने हो, ताकि समाज इस बात से अवगत हो कि अमुक मर्द और औरत के बीच दाम्पत्य सम्बन्ध क़ायम हो गया है। वे एक-दूसरे के जीवन-साथी हैं और नैतिक एवं क़ानूनी ज़िम्मेदारियाँ उठाने का वचन दे चुके हैं, ताकि आवश्यकता पड़ने पर समाज ख़ुद भी उन ज़िम्मेदारियों को अदा करने में उनकी मदद कर सके। साथ ही इस मामले में यदि उनसे कोताही हो तो सचेत कर सके। इसी लिए निकाह के सुबूत के लिए कम से कम दो गवाहों का होना ज़रूरी है, इसके बिना निकाह नहीं हो सकता। अतः

हज़रत आइशा (रज़ि॰) की रिवायत है कि अल्लाह के रसूल मुहम्मद (सल्ल॰) ने फ़रमाया—

لاَ نِكَاحَ اِلاَّ بولى و شاهدى عدل وما كان من غير ذٰلك فهو باطل فان تشاجروا فالسلطان ولى مَنْ لاَ وَلِيَّ لَهُ.

"निकाह वली (अभिभावक) और दो आदिल (न्याय-प्रिय) गवाहों के बग़ैर नहीं होगा। जो निकाह इससे हटकर हो वह बातिल (असत्य/अवैध) है। यदि आपस में विवाद हो तो, जिसका कोई वली नहीं, सुल्तान (मुसलमान हाकिम अथवा राज्य) उसका वली होगा।" (हिदाया किताबुन-निकाह, मअ-ज़ैलई ब-हवाला इब्ने-हिब्बान 3/212, वली की हैसियत पर विस्तृत विवरण आगे एक प्रश्न के उत्तर में आ रहा है।)

केवल वैध सन्तान के अधिकार हैं

इनसान के अन्दर सन्तान की स्वाभाविक इच्छा होती है। वह उससे भावनात्मक रूप से जुड़ा होता है, उससे अत्यधिक प्रेम करता है, उसे देखकर उसे सुख-चैन मिलता है और उसपर अपनी जमा-पूँजी ख़र्च करके ख़ुशी महसूस करता है। वह चाहता है कि उसके ज़रीए से उसका वंश चलता रहे। वह उसे अपनी धन-सम्पत्ति और जायदाद का वैध उत्तराधिकारी मानता है। इस्लाम ने इस भावना को ग़लत नहीं ठहराया है, उसने इसे शेष रखा है और औलाद (सन्तान) पाने के लिए प्रेरित किया है।

وَابْتَغُوْا مَا كَتَبَ اللّٰهُ لَكُمْ

"(दाम्पत्य सम्बन्ध के द्वारा) अल्लाह ने जो औलाद तुम्हारे हिस्से में रख दी है, वह तलब करो।" (क़ुरआन, 2:187)

निकाह के बाद जो औलाद होगी वही जाइज़ (वैध) औलाद होगी और उसे ही क़ानूनी अधिकार प्राप्त होंगे। नाजाइज़ (अवैध) लैंगिक

सम्बन्ध के नतीजे में जो बच्चा पैदा होगा, उसका कोई क़ानूनी हक़ न होगा। ख़ुद उस बच्चे के ज़िम्मे उस व्यक्ति का कोई अधिकार नहीं माना जाएगा जिसके वीर्य से वह पैदा हुआ है। दोनों में से कोई भी एक-दूसरे का वारिस (उत्तराधिकारी) नहीं होगा।

औलाद (सन्तान) के क़ानूनी एवं नैतिक अधिकार हैं। उन अधिकारों का अदा करना माँ-बाप के लिए अनिवार्य है। उन्हें सामाजिक या आर्थिक बोझ समझकर ख़त्म नहीं किया जा सकता। उनके भोजन, वस्त्र और अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति की जाएगी। उन्हें अच्छी-से-अच्छी शिक्षा दी जाएगी, उनका उचित मार्गदर्शन आवश्यक होगा। उनसे प्रेमपूर्वक व्यवहार होगा। लेन-देन में उनके बीच भेदभाव नहीं बरता जाएगा, लड़कों और लड़कियों के साथ एक समान व्यवहार अपनाया जाएगा।

निकट सम्बन्धों की पवित्रता

लैंगिक आवारगी बढ़ती है तो परिवार भी उससे सुरक्षित नहीं रहता। आज दुनिया खुली आँखों से इसका अवलोकन कर रही है। इस्लाम ने परिवार के निकटतम लोगों के बीच लैंगिक सम्बन्ध को हमेशा के लिए हराम (अवैध) घोषित कर दिया है। उन्हें 'मुहर्रमाते-अबदीया' कहा जाता है। उनसे इनसान का किसी स्थिति में भी दाम्पत्य सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता, ताकि इस दायरे में लैंगिक भावनाएँ पनप न पाएँ और परिवार में पवित्रता एवं मान-मर्यादा का वातावरण बने। कुछ मुहर्रमाते-ग़ैर-अबदी हैं, जिनसे वैवाहिक सम्बन्ध विशेष परिस्थितियों में हराम (अवैध) होता है।

अरब में परिवार की पवित्रता एवं पाकीज़गी को पैरों तले रौंदा जा रहा था। कभी-कभी तो लोग सौतेली माँ से शादी कर लेते थे। क़ुरआन ने इसे अशोभनीय एवं अश्लील कृत्य बताया—

وَلَا تَنْكِحُوا مَا نَكَحَ اٰبَآؤُكُمْ مِّنَ النِّسَآءِ اِلَّا مَا قَدْ سَلَفَ اِنَّهٗ كَانَ فَاحِشَةً وَّمَقْتًا وَسَآءَ سَبِيْلًا ﴿٢٢﴾

"तुम्हारे बाप (दादा, नाना) ने जिन औरतों से निकाह किया है उनसे निकाह न करो। हाँ, इससे पहले जो हो चुका वह हो चुका। बेशक यह बेहयाई की हरकत (अश्लील कृत्य) और (अल्लाह के) क्रोध का काम और अशोभनीय तरीक़ा है।" (क़ुरआन, 4:22)

एक ग़लत तरीक़ा यह प्रचलन में था कि आदमी दो बहनों से एक साथ निकाह कर लेता। यह भी होता कि बीवी की मौजूदगी में उसकी बहन से निकाह कर लिया जाता। यह एक अस्वाभाविक काम था। क़ुरआन ने इसे हराम क़रार दिया—

وَاَنْ تَجْمَعُوْا بَيْنَ الْاُخْتَيْنِ اِلَّا مَا قَدْ سَلَفَ اِنَّ اللّٰهَ كَانَ غَفُوْرًا رَّحِيْمًا ﴿٢٣﴾

"(अल्लाह ने हराम किया है) कि तुम दो बहनों को निकाह में जमा करो। हाँ, जो अतीत में हो चुका, हो चुका। बेशक अल्लाह बड़ा माफ़ करनेवाला है।" (क़ुरआन, 4:23)

इसमें सगी, सौतेली और दूध-शरीक बहनें (एक माँ का दूध पी चुकी बहनें) शामिल हैं। बीवी के साथ उसकी ख़ाला (मौसी) या फूफी से निकाह को भी मना किया गया है—

क़ुरआन ने माँ, बेटी, बहन, फूफी, ख़ाला (मौसी), भाँजी, भतीजी, दूध पिलानेवाली माँ, दूध-शरीक बहन, सास, बीवी की वह लड़की जो दूसरे पति से हो और बहू से निकाह को हराम क़रार दिया है।

(क़ुरआन, 4:23)

इस प्रकार इस्लाम ने निकटतम रिश्तों के सम्मान की भावना पैदा की और इस मर्यादा को तोड़ने की किसी हाल में इजाज़त नहीं दी, ताकि परिवार लैंगिक भावनाओं से पाक और पवित्र रहे।

दाम्पत्य सम्बन्ध

दाम्पत्य सम्बन्ध प्रेम का सम्बन्ध है

दाम्पत्य सम्बन्ध वास्तव में प्यार और मुहब्बत का सम्बन्ध है। इसे इसी रूप में देखना एवं शेष रखना चाहिए। मर्द औरत को अपना ही एक अंग समझे और औरत उसके लिए सुख-सन्तोष का पर्याय बन जाए। क़ुरआन कहता है कि सोचने-समझने और विचार करनेवाले लोग इस प्रेम-सम्बन्ध में अल्लाह की बड़ी निशानियाँ देख सकते हैं—

وَمِنْ اٰيٰتِهٖٓ اَنْ خَلَقَ لَكُمْ مِّنْ اَنْفُسِكُمْ اَزْوَاجًا لِّتَسْكُنُوْٓا اِلَيْهَا وَجَعَلَ بَيْنَكُمْ مَّوَدَّةً وَّرَحْمَةً ۭ اِنَّ فِيْ ذٰلِكَ لَاٰيٰتٍ لِّقَوْمٍ يَّتَفَكَّرُوْنَ ۝

"अल्लाह की निशानियों में से एक यह भी है कि उसने तुम्हारे लिए, तुम्हारी ही जाति से जोड़े पैदा किए, ताकि तुम उनके ज़रीए से सुकून हासिल करो और तुम्हारे बीच मुहब्बत और रहमत (प्रेम एवं दया) रख दी। बेशक इसमें बहुत-सी निशानियाँ हैं उन लोगों के लिए जो चिन्तन-मनन करते हैं।" (क़ुरआन, 30:21)

पति-पत्नी के अधिकार एवं कर्त्तव्य

दाम्पत्य सम्बन्ध मात्र लैंगिक तृप्ति का ज़रीआ ही नहीं है, बल्कि इससे एक परिवार की बुनियाद पड़ती है। इसमें मर्द और औरत दोनों के अधिकार हैं, जो उन्हें प्राप्त होंगे और दोनों के कुछ कर्त्तव्य भी हैं, जिनके वे पाबन्द होंगे। क़ुरआन ने स्पष्ट किया है कि—

وَلَهُنَّ مِثْلُ الَّذِيْ عَلَيْهِنَّ بِالْمَعْرُوْفِ

"और औरतों का हक़ है (मर्दों पर) जैसा कि (मर्दों का) उनपर हक़ है, सामान्य नियमानुसार।" (क़ुरआन, 2:228)

तलाक़ के निर्देशों के सन्दर्भ में

क़ुरआन में है कि—

لَا تُضَآرَّ وَالِدَةٌۢ بِوَلَدِهَا وَلَا مَوْلُودٌ لَّهٗ بِوَلَدِهٖ

"न तो माँ को नुक़सान पहुँचाया जाए उसके बच्चे के ज़रीए से (अर्थात् बच्चे को माँ से जुदा करके) और न उसे नुक़सान पहुँचाया जाए जिसका बच्चा है (यानी बाप को)।"

(क़ुरआन, 2:233)

मर्द की ज़िम्मेदारी है कि वह जीविकोपार्जन हेतु आर्थिक रूप से दौड़-धूप करे, बीवी का 'नान व नफ़क़ा' (पत्नी की मूल आवश्यकताएँ) सहन करे। घर और उससे सम्बन्धित सामग्री जुटाए। औरत घर की व्यवस्था एवं प्रबन्धन का भार उठाए, उसे एक आदर्श घर बनाए, अपनी और पति की इज़्ज़त-आबरू की हिफ़ाज़त करे, बच्चों की निगरानी एवं उनका उचित प्रशिक्षण करे। अल्लाह के रसूल मुहम्मद (सल्ल॰) का कथन है—

اَلرَّجُلُ رَاعٍ عَلٰى اهل بيته وهو مسئول عن رعيته والمرأة راعية على اهل بيت زوجها وولده وَهِيَ مَسْئُوْلَةٌ عَنْهُمْ۔

"आदमी अपने घरवालों का निगराँ है और उससे उसकी निगरानी के बारे में (क़ियामत के दिन) पूछा जाएगा। और औरत अपने पति के घरवालों और उसके बच्चों की निगराँ है और उससे उनके सम्बन्ध में (क़ियामत के दिन) सवाल होगा।" (हदीस : बुख़ारी किताबुल-अहकाम)

औरत की ज़ुल्म से रक्षा

औरत कोमलता का प्रतीक है। उसके सर्वमान्य अधिकार भी कई बार उसे प्राप्त नहीं होते और विभिन्न प्रकार से उसपर ज़ुल्म-ज़्यादती पहले भी होती थी और आज भी होती रहती है। इस्लाम ने क़ानून के

ज़रीए से इसे ख़त्म किया है। यहाँ इसके कुछ पहलुओं का उल्लेख किया जा रहा है।

चार निकाह की इजाज़त न्याय की शर्त के साथ

जाहिलीयत के दौर में (अर्थात् मुहम्मद सल्ल॰ द्वारा इस्लाम की पुनर्स्थापना से पहले) एक व्यक्ति जितनी औरतों से चाहे, शादी कर सकता था। इस्लाम ने एक समय में चार से ज़्यादा बीवियों की इजाज़त नहीं दी और शर्त यह रखी कि उनके बीच 'नान-नफ़क़ा' (मूल आवश्यकताएँ भोजन, वस्त्र, मकान आदि), रात्रि-विश्राम और आचार-व्यवहार में न्याय एवं समानता हो। किसी के साथ प्रधानता, प्राथमिकता का व्यवहार न हो। यदि इन शर्तों पर खरा उतरने में व्यक्ति सक्षम न हो तो कहा गया कि एक ही निकाह किया जाए। क़ुरआन के शब्दों में—

فَإِنْ خِفْتُمْ أَلَّا تَعْدِلُوا فَوَاحِدَةً

"यदि तुम्हें डर हो कि बीवियों के साथ इनसाफ़ (न्याय) न करोगे तो केवल एक निकाह करो।" (क़ुरआन, 4:3)

इसका मतलब यह है कि एक व्यक्ति की वास्तव में केवल एक बीवी होगी। वह एक से अधिक बीवियाँ रखना चाहे तो इसकी सीमा चार तक निर्धारित है, परन्तु उसे हर हाल में न्याय की अपेक्षाएँ पूरी करनी होंगी। अन्याय होगा तो फिर इस्लामी क़ानून औरत को न्याय दिलाएगा।

मतभेदों को दूर करने के उपाय

दाम्पत्य जीवन में कभी मतभेद एवं विवाद की स्थिति भी आ सकती है। हुक्म है कि इन मतभेदों को पति-पत्नी स्वयं ही हिकमत से दूर करने की कोशिश करें। मर्द उदारता एवं धैर्य का परिचय दे, औरत का रवैया ग़लत और नापसन्दीदा हो तो बात-चीत और समझाने-बुझाने का तरीक़ा अपनाए। हालात को ठीक करने के लिए वह विलगता प्रकट

करते हुए शयन-कक्ष में उससे अलग रह सकता है। यथासमय उसे एक सीमा के अन्तर्गत कठोरता बरतने की भी इजाज़त है। लेकिन एक सीमा से आगे बढ़ने का उसे हक़ नहीं है। इसी प्रकार औरत मर्द के अन्दर कोई अप्रिय बात देखे तो अपने अधिकारों पर आग्रह करने की बजाय, अधिकारों को छोड़ने के लिए तैयार हो जाए। इसके बावुजूद सम्बन्ध ठीक न हों तो दोनों ओर के दो व्यक्तियों को मध्यस्थ मानकर उनके फ़ैसले को स्वीकार कर लिया जाए। इसके बाद भी सम्बन्धों में सुधार न हो तो 'तलाक़' या 'ख़ुलअ' के ज़रीए अलग हो जाए। ताकि दोनों दाम्पत्य बन्धन से मुक्त होकर अपने भविष्य का फ़ैसला कर सकें।

(क़ुरआन, 4:34-35)

तलाक़ का तरीक़ा

अज्ञान काल में तलाक़ की कोई हद नहीं थी, आदमी जितनी बार चाहे और जितनी अवधि के लिए चाहे तलाक़ दे देता और जब मन करता पुनः 'रुजूअ' अर्थात तलाक़ वापस लेकर पत्नी को अपना लेता था। इस्लाम ने इस पूरे मसले को एक विशेष आयाम से देखा और एक नए ढंग से समाधान पेश किया। उसने कहा कि निकाह मुहब्बत, प्रेम, अनुराग एवं आकर्षण का रिश्ता है। इन मूल तत्त्वों को जहाँ तक सम्भव हो बचाकर रखना चाहिए, कारण यह कि इनका लुप्त होना सम्पूर्ण पारिवारिक व्यवस्था को प्रभावित कर सकता है। मतभेद हों तो उन्हें दूर करने के सम्भावित उपाय, जिनका उसने ख़ुद उल्लेख कर दिया है, करना चाहिए। इसके बावुजूद तलाक़ देनी ही पड़े तो केवल दो बार निर्धारित अन्तराल में दी जा सकती है। उनमें 'इद्दत' (एक विशेष अवधि जिसमें औरत तलाक़ अथवा पति की मृत्यु के बाद रहती है। इस अवधि में वह किसी से निकाह नहीं कर सकती) के बीच रुजूअ (पुनः पत्नी के पास लौटने) का हक़ प्राप्त होगा। यदि तीसरी बार तलाक़ दी जाए तो रुजूअ का हक़ समाप्त हो जाएगा और उससे फिर से निकाह उसी वक़्त हो सकेगा जबकि वह किसी अन्य मर्द के निकाह में जाए

और वह भी उसे (जाइज़ कारणों से) तलाक़ दे दे (या उसकी मौत हो जाए)। इसके बाद पहला पति औरत से पुनः निकाह करना चाहे और औरत भी इसके लिए तैयार हो तो नए मह्र के साथ निकाह कर सकता है। जैसा कि क़ुरआन में आया है—

اَلطَّلَاقُ مَرَّتٰنِ فَاِمۡسَاكٌۢ بِمَعۡرُوۡفٍ اَوۡ تَسۡرِيۡحٌۢ بِاِحۡسَانٍ.............

فَاِنۡ طَلَّقَهَا فَلَا تَحِلُّ لَهٗ مِنۡۢ بَعۡدُ حَتّٰى تَنۡكِحَ زَوۡجًا غَيۡرَهٗ

"तलाक़ दो बार है (इसमें रुजूअ हो सकता है) इसके बाद या तो नियमानुसार बीवी को रखा जाए या भले तरीक़े से उसे छोड़ दिया जाए। .... फिर यदि उस औरत को (तीसरी बार) तलाक़ दी तो वह उसके लिए हलाल न होगी, जब तक कि वह किसी दूसरे से निकाह न करे।"

(क़ुरआन, 2:229-230)

ज़िहार और उसका कफ़्फ़ारा

अरबवासियों में ज़िहार[1] का तरीक़ा प्रचलित था। वह यह कि कोई व्यक्ति अपनी पत्नी से कहता कि तुम मेरी माँ की पीठ की तरह हो (अर्थात् मेरी माँ के सदृश हो) और उससे विलग हो जाता। इसे तलाक़ समझा जाता था। क़ुरआन ने कहा, यह एक बेकार और बेहूदा बात है कि आदमी बीवी को माँ क़रार दे।

اَلَّذِيۡنَ يُظٰهِرُوۡنَ مِنۡكُمۡ مِّنۡ نِّسَآئِهِمۡ مَّا هُنَّ اُمَّهٰتِهِمۡ ؕ اِنۡ اُمَّهٰتُهُمۡ اِلَّا الّٰٓـىِٔۡ وَلَدۡنَهُمۡ ؕ وَاِنَّهُمۡ لَيَقُوۡلُوۡنَ مُنۡكَرًا مِّنَ الۡقَوۡلِ وَزُوۡرًا ؕ وَاِنَّ اللّٰهَ لَعَفُوٌّ غَفُوۡرٌ ۝٢

1. एक प्रकार की तलाक़। इस्लामी पारिभाषिक शब्दों के अनुसार इससे तात्पर्य यह है कि मर्द अपनी पत्नी को माँ, बहन, या उन औरतों के सदृश माने जो शरीअत ने उसपर हराम की हैं।

> "तुममें से जो लोग अपनी औरतों से ज़िहार करें वे उनकी माएँ नहीं हो जातीं। उनकी माएँ तो वे हैं जिन्होंने उन्हें जन्म दिया है। बेशक जो लोग ज़िहार करते हैं वे एक नापसन्दीदा और ग़लत बात कहते हैं, और बेशक अल्लाह बड़ा माफ़ करनेवाला है।" (क़ुरआन, 58:2)

आदेश हुआ कि यदि कोई व्यक्ति 'ज़िहार' की ग़लत हरकत कर बैठे तो बीवी से दाम्पत्य सम्बन्ध स्थापित करने से पहले अनिवार्य रूप से कफ़्फ़ारा[2] अदा करे। कफ़्फ़ारा यह है कि एक ग़ुलाम आज़ाद करे, सक्षम न हो तो लगातार साठ रोज़े रखे, यह भी सम्भव न हो तो साठ मिस्कीनों (अतिनिर्धन लोगों) को खाना खिलाए। (क़ुरआन, 58:3-4)

'ईला' और उसके सम्बन्ध में निर्देश

अरबवासियों में 'ईला' का भी प्रचलन था। ईला का अर्थ है पत्नी से सम्बन्ध न रखने की क़सम खाना। हज़रत सईद-बिन-मुसय्यिब फ़रमाते हैं कि जाहिलीयत के दौर में औरतों को प्रताड़ित करने का यह एक तरीक़ा था। आदमी अपनी बीवी को तलाक़ देकर उसे मुक्त नहीं करता था, वह नहीं चाहता था कि कोई दूसरा उससे शादी कर ले। वह क़सम ख़ाकर बीवी से सम्बन्ध तोड़ लेता था। वह पति के होते हुए व्यवहारतः पृथक ज़िन्दगी गुज़ारने पर मजबूर होती।

हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-अब्बास (रज़ि॰) फ़रमाते हैं कि अज्ञानी लोगों का 'ईला' साल दो साल का ही नहीं बल्कि इससे ज़्यादा अवधि के लिए होता था। (इब्ने-हय्यान उन्दुलुसी, अल-बहरुल-मुहीत 2/191, दारुल कुतुबिल इल्मीया, बैरूत 1993 ई॰।)

क़ुरआन ने इस ज़ुल्म को ख़त्म किया और इसकी अवधि चार माह निर्धारित की। इर्शाद है—

---

2 किसी गुनाह से छुटकारे और प्रायश्चित का उपाय।

لِلَّذِيْنَ يُؤْلُوْنَ مِنْ نِّسَآبِهِمْ تَرَبُّصُ اَرْبَعَةِ اَشْهُرٍ ۚ فَاِنْ فَآءُوْ فَاِنَّ اللّٰهَ غَفُوْرٌ رَّحِيْمٌ ۞ وَاِنْ عَزَمُوا الطَّلَاقَ فَاِنَّ اللّٰهَ سَمِيْعٌ عَلِيْمٌ ۞

"वे लोग जो अपनी औरतों से सम्बन्ध न रखने की क़सम खाते हैं उनके लिए चार माह की मोहलत है। यदि वे इसमें रुजूअ कर लें (अर्थात् पुनः सम्बन्ध बना लें) तो अल्लाह क्षमाशील एवं दयालु है, परन्तु यदि वे तलाक़ का इरादा ही कर लें तो अल्लाह सुनने एवं जाननेवाला है।"

(क़ुरआन, 2:226-227)

क़ुरआन की उपरोक्त आयतों से स्पष्ट है कि कोई व्यक्ति औरत को छोड़ देने की क़सम खा ले और चार माह के अन्दर रुजूअ कर ले तो उसे केवल क़सम का कफ़्फ़ारा (प्रायश्चित) अदा करना होगा। लेकिन यदि उसने तलाक़ ही का फ़ैसला कर लिया है तो उसे तलाक़ दे देनी चाहिए। (ईला के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण के लिए देखें इब्ने-कसीर, तफ़सीरुल-क़ुरआनिल अज़ीम 1/268-69)

सद्व्यवहार का आदेश

इन अशोभनीय, अमानवीय एवं क्रूर कुरीतियों के अतिरिक्त आम ज़िन्दगी में औरत के साथ तरह-तरह की ज़्यादतियाँ होती रहती थीं और असभ्य एवं अनैतिक व्यवहार उनके साथ होता था। क़ुरआन के माध्यम से अल्लाह ने औरतों के साथ सद्व्यवहार, उच्च नैतिक आदर्शों को अपनाने और औरतों में कोई कमज़ोरी हो तो उसे नज़र-अन्दाज़ करने का हुक्म दिया।

وَعَاشِرُوْهُنَّ بِالْمَعْرُوْفِ ۚ فَاِنْ كَرِهْتُمُوْهُنَّ فَعَسٰٓى اَنْ تَكْرَهُوْا شَيْئًا وَّيَجْعَلَ اللّٰهُ فِيْهِ خَيْرًا كَثِيْرًا ۞

"उनके साथ भले तरीक़े से ज़िन्दगी गुज़ारो। यदि (किसी कारण से) तुम उन्हें नापसन्द करते हो तो यह भी हो

सकता है कि तुम एक चीज़ को नापसन्द करो और अल्लाह ने उसमें बड़ी भलाई रखी हो।" (क़ुरआन, 4:19)

उपरोक्त आयत में सम्बोधन हर उस व्यक्ति से है जो दाम्पत्य ज़िन्दगी गुज़ार रहा है कि बीवी के साथ उसका सम्बन्ध 'मारूफ़' (भले तरीक़े) के अनुसार होना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि उसके अधिकार ठीक-ठीक पूरे किए जाएँ और उसकी जाइज़ और उचित ज़रूरतें पूरी की जाएँ। उसके साथ अशोभनीय व्यवहार न किया जाए, बल्कि प्यार और मुहब्बत का व्यवहार किया जाए। बोल-चाल और आचार-व्यवहार में मधुरता हो। ये सभी बातें 'मारूफ़' के अन्तर्गत आती हैं। इसके विपरीत जो व्यवहार अपनाया जाएगा वह 'ग़ैर-मारूफ़' या क़ुरआन के शब्द में 'मुनकर' (बुरा) होगा।

उपरोक्त आयत में एक अहम बात यह बताई गई है कि औरत के स्वभाव में कोई कमज़ोरी भी हो सकती है। इसकी सम्भावना भी है कि उसकी कोई आदत तुम्हें पसन्द न हो, परन्तु व्यक्ति को सुखद दाम्पत्य जीवन के लिए इसे सहन करना चाहिए। हर अप्रिय चीज़ विलगाव एवं जुदाई का कारण बन जाने लगे तो दाम्पत्य सम्बन्ध कैसे स्थापित रह सकता है? कभी-कभी आदमी घमण्ड और बड़प्पन की भावना से प्रेरित होकर कोई ऐसा क़दम उठा लेता है जो उसके लिए अत्यन्त हानिकारक होता है। यदि इनसान के अन्दर दूरदर्शिता तथा किसी काम के नतीजे पर नज़र हो तो बहुत-सी अप्रिय चीज़ें भी सहन करना उसके लिए आसान होगा। यह एक हक़ीक़त है कि ज़िन्दगी की बहुत-सी नागवारियाँ (अप्रिय चीज़ें) कभी-कभी भलाई का कारण बन जाती हैं और प्रसन्नता प्रदान करती हैं। जिस औरत से आदमी को शिकायत है, हो सकता है कि अल्लाह उसके ज़रीए से नेक सन्तान प्रदान करे या और कोई भलाई का दरवाज़ा खोल दे। इसलिए आदमी को धैर्य, सन्तोष एवं सदाचरण का मार्ग अपनाना चाहिए।

हज़रत अबू-हुरैरह (रज़ि०) की रिवायत है कि अल्लाह के रसूल

मुहम्मद (सल्ल॰) ने फ़रमाया—

لا يفرك مومن مومنة ان كره منها خلقا رضى منها اخر۔

> “कोई मोमिन (मुसलमान पुरुष) किसी मोमिना (मुसलमान स्त्री) से ईर्ष्या एवं घृणा न करे, यदि वह उसके किसी रवैया (व्यवहार) को नापसन्द करे तो उसका दूसरा रवैया उसे पसन्द आएगा और वह ख़ुश होगा।” (हदीस : मुस्लिम किताबुर-रिज़ाअ, बाबुल-वसीयते-बिन्-निसाई)

मतलब स्पष्ट है कि कोई इनसान पूर्णतः बुराई का पुतला नहीं होता, बल्कि उसके अन्दर कमज़ोरी होती है तो ख़ूबी भी होती है। आदमी की नज़र कमज़ोरी पर नहीं ख़ूबी पर होनी चाहिए और उससे उसे फ़ायदा उठाना चाहिए।

औरत में यदि कोई कष्टदायक अवगुण या कमज़ोरी है और वह जड़ पकड़ चुकी है तो आदमी को जो रवैया अपनाना चाहिए वह एक अन्य हदीस से स्पष्ट होता है।

> “हज़रत लक़ीत-बिन-आमिर-बिन-सबरह (रज़ि॰) अपना वाक़िआ बयान करते हैं कि मैंने अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) से अर्ज़ किया कि मेरी बीवी की ज़बान में ख़राबी है, गन्दी बातें करती है। आप (सल्ल॰) ने फ़रमाया उसे तलाक़ दे दो। मैंने अर्ज़ किया कि काफ़ी समय से साथ रह रही है, उससे मेरी औलाद भी है। आपने फ़रमाया, फिर तो उसे नसीहत करो। उसके स्वभाव में भलाई होगी तो उसपर अमल करेगी, परन्तु जिस प्रकार लौंडियों (दासियों) को मारते हो उस प्रकार उसे हरगिज़ न मारो।”
>
> (हदीस : अबू-दाऊद, किताबुत-तहारह, बाबु-फ़िल-इस्तिन्शार)

मतलब यह कि औरत में कोई ऐसी कमज़ोरी है जिससे आदमी कष्ट महसूस कर रहा है तो उसके लिए उचित तरीक़ा यह है कि उससे

सम्बन्ध विच्छेद कर ले, परन्तु यदि उससे पैदा होनेवाली औलाद और जीवनसाथी होने का ख़याल हो या और कोई कारण हो तो उसकी कमज़ोरी को धैर्यपूर्वक सहन करे। नसीहत और सलाह देता रहे और सुधार की उम्मीद रखे। यह बात ठीक नहीं होगी कि उसपर हाथ उठाए और मारपीट शुरू कर दे। इसलिए कि वह कोई दासी नहीं बल्कि धर्मपत्नी एवं जीवनसाथी है।

परिवार के सदस्यों के अधिकार एवं कर्त्तव्य

परिवार अल्लाह की नेमत है

दाम्पत्य सम्बन्ध से पूरा परिवार वुजूद में आता है। औलाद, माँ-बाप, भाई-बहन फिर उनके माध्यम से बहुत-से दूसरे रिश्ते बनते हैं। परिवार का अस्तित्व अल्लाह का बन्दों पर बहुत बड़ा उपकार है। सामाजिक एवं नागरिक जीवन में इसकी बड़ी अहमियत है। यही बात क़ुरआन में इन शब्दों में बयान हुई है—

وَاللّٰهُ جَعَلَ لَكُمْ مِّنْ اَنْفُسِكُمْ اَزْوَاجًا وَّجَعَلَ لَكُمْ مِّنْ اَزْوَاجِكُمْ بَنِيْنَ وَحَفَدَةً وَّرَزَقَكُمْ مِّنَ الطَّيِّبٰتِ اَفَبِالْبَاطِلِ يُؤْمِنُوْنَ وَبِنِعْمَتِ اللّٰهِ هُمْ يَكْفُرُوْنَ ۝

"अल्लाह ने तुम्हारे लिए तुम्हारी ही जाति से बीवियाँ पैदा कीं और तुम्हें अपनी बीवियों से बेटे और पोते दिए और खाने के लिए तुम्हें पाक चीज़ें प्रदान कीं। तो क्या फिर भी वे बातिल (असत्य) पर ईमान रखते हैं और अल्लाह की नेमत का इनकार करते हैं।" (क़ुरआन, 16:72)

परिवार के सदस्यों से आदमी के दूर और नज़दीक के सम्बन्ध होते हैं। किसी से उसका सीधा सम्बन्ध होता है और किसी से अप्रत्यक्ष। इसी आधार पर जीवन में उसके अधिकार एवं कर्त्तव्य निर्धारित होते हैं और मृत्यु के बाद वे एक-दूसरे के क़ानूनी वारिस होते हैं। विरासत (उत्तराधिकार) के निर्देशों के सन्दर्भ में क़ुरआन में कहा गया हैं—

اٰبَآؤُكُمْ وَاَبْنَآؤُكُمْ لَا تَدْرُوْنَ اَيُّهُمْ اَقْرَبُ لَكُمْ نَفْعًا

"तुम नहीं जानते कि तुम्हारे बाप और तुम्हारे बेटों में से कौन तुम्हारे लिए ज़्यादा लाभ पहुँचानेवाला होगा।"

(क़ुरआन, 4:11)

परिवार के सदस्यों के क़ानूनी अधिकार

इस्लाम ने परिवार का संगठन एवं प्रबन्धन इस प्रकार किया है कि परिवार के सदस्यों का एक-दूसरे से किसी न किसी रूप में सम्पर्क रहता है, परन्तु उनके बीच सम्बन्ध स्वाभाविक रूप से भिन्न-भिन्न स्तर के होते हैं। कोई बहुत निकट सम्बन्धी होता है और किसी से दूर का सम्बन्ध होता है, और इस्लाम ने आधिकारों एवं कर्त्तव्यों का निर्धारण करते समय इसका ख़ास ख़याल भी रखा है।

बीवी-बच्चों के अधिकार

परिवार में बीवी-बच्चों के अधिकार सबसे पहले आते हैं। इस्लाम ने आदमी की हैसियत के अनुसार बीवी के भोजन, आवास और अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ज़िम्मेदारी मर्द पर डाली है और इसके साथ सद्व्यवहार पर ज़ोर दिया है। अतः क़ुरआन में कहा गया है—

لِيُنْفِقْ ذُوْ سَعَةٍ مِّنْ سَعَتِهٖ ۭ وَمَنْ قُدِرَ عَلَيْهِ رِزْقُهٗ فَلْيُنْفِقْ مِمَّآ اٰتٰىهُ اللّٰهُ ۭ لَا يُكَلِّفُ اللّٰهُ نَفْسًا اِلَّا مَآ اٰتٰىهَا ۭ سَيَجْعَلُ اللّٰهُ بَعْدَ عُسْرٍ يُّسْرًا ۝

"जिस व्यक्ति को (आमदनी में) कुशादगी प्राप्त है, वह अपनी क्षमता के अनुसार (बीवी पर) ख़र्च करे और जिसको नपी-तुली (सीमित) रोज़ी मिली है वह उसी में से ख़र्च करे जो अल्लाह ने दिया है। अल्लाह ने जिसको जितना दिया है उससे ज़्यादा की वह उसपर ज़िम्मेदारी नहीं डालता। अल्लाह मुश्किल के बाद जल्द आसानी (भी) पैदा फ़रमाएगा।" (क़ुरआन, 65:7)

औलाद वास्तव में आदमी का ख़ुद अपना ही एक हिस्सा है।

इसलिए स्वयं की तरह औलाद की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति भी व्यक्ति पर वाजिब (अनिवार्य) है। क़ुरआन ने तलाक़ के निर्देशों के सन्दर्भ में फ़रमाया—

وَعَلَى الْمَوْلُودِ لَهُ رِزْقُهُنَّ وَكِسْوَتُهُنَّ بِالْمَعْرُوفِ ۚ لَا تُكَلَّفُ نَفْسٌ إِلَّا وُسْعَهَا ۚ لَا تُضَارَّ وَالِدَةٌ بِوَلَدِهَا وَلَا مَوْلُودٌ لَّهُ بِوَلَدِهِ ۚ وَعَلَى الْوَارِثِ مِثْلُ ذَٰلِكَ

"(तलाक़ के बाद यदि औरतें दूध पिलाएँ तो) जिसका बच्चा है (अर्थात् पिता) उसपर नियमानुसार उनके खाने और कपड़े की ज़िम्मेदारी है। किसी व्यक्ति को उसकी क्षमता (सामर्थ्य) से ज़्यादा तकलीफ़ नहीं दी जाती। न तो माँ को उसके बच्चे के सिलसिले में कष्ट पहुँचाया जाए और न बाप को जिसका बच्चा है इस मामले में परेशान किया जाए। जो वारिस है उसपर भी इसी प्रकार भोजन-कपड़ा आदि की ज़िम्मेदारी है।" (क़ुरआन, 2:233)

इससे मालूम हुआ कि बच्चा बाप का है और उसके दूध पिलाने का ख़र्च वहन करना बाप के ज़िम्मे है। यहाँ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि बच्चे की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति करना बाप पर वाजिब है। बाप न हो तो उसके वारिस पर यह ज़िम्मेदारी होगी।

माँ-बाप के अधिकार

व्यक्ति का अपने माँ-बाप से बहुत ही क़रीबी सम्बन्ध होता है, उनका भरण-पोषण और अन्य ज़रूरतें पूरी करना उसपर वाजिब है।

महरम रिश्तेदारों के अधिकार

व्यक्ति के वे रिश्तेदार जो महरम हैं, अर्थात् जिनके साथ निकाह जाइज़ नहीं है, उनमें से कोई लड़की या कमउम्र लड़का है या वयस्क तो

है लेकिन वह अपाहिज, नाबीना या किसी भी तरह से अपाहिज है और ज़रूरतमन्द है तो उसके भरण-पोषण की ज़िम्मेदारी उसके वारिसों पर वाजिब होगी। जो व्यक्ति उसकी विरासत में जितने हिस्से का वारिस होगा उसपर उसके भरण-पोषण की उतनी ही ज़िम्मेदारी होगी।

पत्नी के अधिकार एवं अन्य लोगों के अधिकार में अन्तर

यहाँ यह बात स्पष्ट रूप से ध्यान में रहे कि पत्नी के अतिरिक्त परिवार के अन्य सदस्यों का भरण-पोषण उस समय वाजिब होता है जब कि वे उसके ज़रूरतमन्द हों। यदि वे सम्पन्न हैं और अपना ख़र्च वहन कर सकते हैं तो उनका भरण-पोषण वाजिब नहीं होगा। हाँ, यदि ज़रूरत के अनुसार उनकी आमदनी न हो तो उस हद तक उसे पूरा करना ज़रूरी होगा।

लड़कियाँ ज़िन्दा दफ़न न की जाएँगी

जाहिलीयत के दौर में अरबों के परिवार में जो शक्तिशाली होता वह कमज़ोर पर ज़ुल्म करता और विभिन्न प्रकार से उनके अधिकारों का हनन करता। विशेषकर औरतें और यतीम (अनाथ) उसका शिकार बनते।

लड़कों की अपेक्षा लड़कियों की कोई हैसियत नहीं थी। बल्कि उन्हें बोझ समझा जाता था। इसकी भी मिसालें मिलती हैं कि लड़कियाँ ज़िन्दा दफ़ना दी गईं। इस्लाम ने इसके ख़िलाफ़ आवाज़ बुलन्द की और इसे एक ऐसा संगीन अपराध क़रार दिया जिसकी जवाबदेही से आदमी क़ियामत के दिन बच नहीं सकता।

وَإِذَا الْمَوْءُدَةُ سُئِلَتْ ﴿٨﴾ بِأَيِّ ذَنْبٍ قُتِلَتْ ﴿٩﴾

"जब ज़िन्दा दफ़न की गई लड़की से पूछा जाएगा कि किस जुर्म में उसकी जान ली गई थी?" (क़ुरआन, 81:8-9)

विरासत में औरत का अधिकार

इस्लाम ने औरत को परिवार के एक सदस्य के रूप में जो स्थान प्रदान किया और उसे जो अधिकार दिए उनमें एक विरासत भी प्रमुख है। जाहिलियत के दौर में परिवार में औरत का कोई आर्थिक अधिकार मान्य नहीं था। अतः उसे विरासत में कोई हिस्सा नहीं मिलता था। इस्लाम ने विरासत में उसे शामिल किया और उसका हक़ निर्धारित किया।

لِلرِّجَالِ نَصِيبٌ مِّمَّا تَرَكَ الْوَالِدَانِ وَالْأَقْرَبُونَ وَلِلنِّسَاءِ نَصِيبٌ مِّمَّا تَرَكَ الْوَالِدَانِ وَالْأَقْرَبُونَ مِمَّا قَلَّ مِنْهُ أَوْ كَثُرَ نَصِيبًا مَّفْرُوضًا ۝

"मर्दों का भी हिस्सा है उस माल में जो माँ-बाप और रिश्तेदार छोड़ जाएँ और औरतों का भी उस माल में हिस्सा है जो माँ-बाप और रिश्तेदार छोड़ जाएँ, चाहे वह कम हो या ज़्यादा, (प्रत्येक का) हिस्सा निर्धारित है।"

(क़ुरआन, 4:7)

इस प्रकार इस्लाम ने पारिवारिक अधिकारों में मर्द के साथ औरत को भी शामिल किया और दोनों की ज़िम्मेदारियों के आधार पर उनका हिस्सा निर्धारित कर दिया।

यतीम (अनाथ) का हक़ न मारा जाए

परिवार में यतीमों के साथ बड़ा ज़ुल्म होता था, ख़ुद उनके संरक्षक एवं अभिभावक उनपर ज़्यादती करते और उनके माल-जायदाद पर क़ब्ज़ा कर लेते। क़ुरआन ने इसपर आख़िरत की सज़ा की चेतावनी दी और इस काम से बचने की ताकीद की।

إِنَّ الَّذِينَ يَأْكُلُونَ أَمْوَالَ الْيَتَامَىٰ ظُلْمًا إِنَّمَا يَأْكُلُونَ فِي بُطُونِهِمْ نَارًا ۖ وَسَيَصْلَوْنَ سَعِيرًا ۝

"जो लोग यतीमों के माल नाहक़ खाते हैं वे हक़ीक़त में

अपने पेटों में आग भर रहे हैं, और जल्द ही जहन्नम की दहकती आग में दाख़िल होंगे।" (क़ुरआन, 4:10)

क़ुरआन ने हिदायत की कि यतीमों के साथ हमदर्दी, प्रेम और मुहब्बत का रवैया अपनाया जाए और उनके माल की पूरी तरह हिफ़ाज़त की जाए। जब वे बालिग़ हो जाएँ तो उनका माल उनके हवाले कर दिया जाए और इसके सुबूत के लिए गवाह भी रखे जाएँ।

(क़ुरआन, 4:6)

रिश्तों का सम्मान

इस्लाम ने पारिवारिक व्यवस्था की मज़बूती के लिए क़ानून ही नहीं बनाए, बल्कि नैतिक रूप से भी प्रेरित किया। उसने अख़लाक़ की जो व्यापक शिक्षा दी उसका एक पहलू यह भी है कि ख़ून के रिश्ते का सम्मान और आदर हो। इसमें कमी आती है तो यह तक़वा (ईश-भय) एवं ईशपरायणता के विपरीत बात होगी।

وَاتَّقُوا اللّٰهَ الَّذِيْ تَسَآءَلُوْنَ بِهٖ وَالْاَرْحَامَ ؕ اِنَّ اللّٰهَ كَانَ عَلَيْكُمْ رَقِيْبًا ①

"और डरते रहो उस अल्लाह से जिसका वास्ता देकर तुम एक-दूसरे से अधिकारों की अपेक्षा करते हो, और रिश्तों का ध्यान रखो। बेशक अल्लाह, जो कुछ तुम करते हो, उसे देख रहा है।" (क़ुरआन, 4:1)

रिश्ते-नाते जोड़े रखने और सद्व्यवहार का आदेश

अल्लाह के नेक बन्दों की एक विशेषता यह बताई गई है कि जिन सम्बन्धों को जोड़ने का उन्हें आदेश दिया गया है उन्हें वे जोड़े रखते हैं। इसमें रिश्तेदारों के साथ सद्व्यवहार सबसे पहले आता है।

وَالَّذِيْنَ يَصِلُوْنَ مَآ اَمَرَ اللّٰهُ بِهٖٓ اَنْ يُّوْصَلَ وَيَخْشَوْنَ رَبَّهُمْ وَيَخَافُوْنَ سُوْٓءَ الْحِسَابِ ؕ

"वे जो उन सम्बन्धों को जोड़ते हैं, जिनके जोड़ने का

अल्लाह ने हुक्म दिया है और अपने रब से डरते हैं और (आख़िरत के) बुरे हिसाब का डर रखते हैं।''

(क़ुरआन, 13:21)

उपरोक्त आयत में सम्बन्धों को जोड़े रखने का उल्लेख अल्लाह का डर और आख़िरत के हिसाब-किताब के साथ किया गया है। इससे इसकी अहमियत स्पष्ट होती है। क़ुरआन में बार-बार ताकीद की गई है कि रिश्तेदारों के हक़ अदा किए जाएँ। इर्शाद है–

وَاٰتِ ذَا الْقُرْبٰی حَقَّهٗ

''और रिश्तेदार को उसका हक़ अदा करो।''

(क़ुरआन, 17:26)

यही बात एक अन्य स्थान पर कही गई है–

اِیْتَآئِ ذِی الْقُرْبٰی

''अल्लाह का हुक्म है कि रिश्तेदारों का हक़ अदा किया जाए।'' (क़ुरआन, 16:90)

रिश्तेदारों के ये अधिकार सम्बन्धों के प्रकार, स्तर एवं हालात के आधार पर क़ानूनी एवं नैतिक दोनों प्रकार के हैं।

रिश्तेदार एवं परिवार के सदस्य दूर के हों या नज़दीक के, उनके साथ सद्व्यवहार, हमदर्दी और भलाई चाहने का रवैया अपनाया जाएगा और उनके दुख-दर्द में साथ दिया जाएगा। अल्लाह के रसूल जिन बातों की शिक्षा देते थे उनमें यह बात भी शामिल थी कि–

وَبِالْوَالِدَیْنِ اِحْسَانًا وَّذِی الْقُرْبٰی

''माँ-बाप के साथ अच्छा व्यवहार करो और रिश्तेदारों से.......।'' (क़ुरआन, 2:83)

इसी सद्व्यवहार को 'सिला-रहमी' भी कहा जाता है। हदीस में इसका बड़ा सवाब बयान हुआ है। हज़रत अनस (रज़ि०) रिवायत करते

हैं कि अल्लाह के रसूल मुहम्मद (सल्ल॰) ने फ़रमाया—

مَنْ سَرَّہٗ ان یُّبْسَطَ لہ رزقہ ویُنْسَأَ لہ فی اثرہ فَلْیَصِلْ رَحِمَہٗ۔

"जो व्यक्ति यह पसन्द करता है कि रिज़्क़ (आय) में बढ़ोत्तरी और उम्र में इज़ाफ़ा हो तो सिला-रहमी करे।"

(हदीस : बुख़ारी किताबुल-बुयूअ, बाबु-मन अहब्बल-बस्ति फ़िर-रिज़्कि। मुस्लिम किताबुल-बिर्रि-वस्सिला, बाबु, सि-ल-तिर-रहिम व तहरीमे-क़तीअतिहा)

इस्लाम ने क़रीब के रिश्तेदारों के क़ानूनी अधिकार निर्धारित किए और दूर के रिश्तेदारों के साथ सद्व्यवहार, सहयोग एवं सद्भाव का आदेश दिया। इसका अन्दाज़ा इससे किया जा सकता है कि विरासत के आदेशों के सन्दर्भ में कहा गया है कि हक़दारों का हक़ अदा किया जाए और जिन ज़रूरतमन्दों का क़ानूनी हक़ नहीं है उन्हें नज़रअन्दाज़ न किया जाए। वे सद्व्यवहार के योग्य हैं। इसमें सबसे पहले रिश्तेदार आते हैं। क़ुरआन में आया है—

وَإِذَا حَضَرَ الْقِسْمَةَ أُولُوا الْقُرْبَىٰ وَالْيَتَامَىٰ وَالْمَسَاكِينُ فَارْزُقُوهُم مِّنْهُ وَقُولُوا لَهُمْ قَوْلًا مَّعْرُوفًا ۝٨

"जब विरासत के बँटवारे के समय रिश्तेदार, यतीम और मिस्कीन (निर्धन) हाज़िर हों तो उन्हें इसमें से कुछ दे दो और उनसे भली बात कहो।" (क़ुरआन, 4:8)

सम्बन्धों को तोड़ने की मनाही

रिश्तों और सम्बन्धों को तोड़ने की सख़्ती से मनाही की गई है। इसे ईमान के विपरीत और कपटाचार क़रार दिया गया। कपटाचारी (मुनाफ़िक़ लोगों) के बारे में कहा गया है—

فَهَلْ عَسَيْتُمْ إِن تَوَلَّيْتُمْ أَن تُفْسِدُوا فِي الْأَرْضِ وَتُقَطِّعُوا أَرْحَامَكُمْ ۝٢٢

"यदि तुम दीन (इस्लाम) से फिर गए और क़ुफ़्र (इनकार) की ओर पलट गए तो असम्भव नहीं कि ज़मीन में बिगाड़ फैलाओ और क़ता-रहमी करने (सम्बन्धों को तोड़ने) लगो।" (क़ुरआन, 47:22)

हदीस में क़ता-रहमी पर सख़्त चेतावनी आई है। हज़रत जुबैर-बिन-मुतइम (रज़ि०) की रिवायत है कि अल्लाह के रसूल मुहम्मद (सल्ल०) ने फ़रमाया—

"क़ता-रहमी करनेवाला जन्नत में दाख़िल नहीं होगा।"

(हदीस : बुख़ारी किताबुल-अदब बाबु-इस्मिल क़ातिई, मुस्लिम किताबुल-बिर्रि वस्सिला, बाबु- सि-ल-तिर-रहिम व तहरीमे-क़तीअतिहा)

एक हदीस में है कि नबी (सल्ल०) ने फ़रमाया—

"अल्लाह ने जब मख़लूक़ पैदा (सृष्टि की रचना) की तो रहम (ख़ूनी रिश्ते) ने अल्लाह का दामन पकड़ लिया और क़ता-रहमी से पनाह माँगी। इसपर अल्लाह ने फ़रमाया—

الا ترضين ان اصل من وصلك واقطع من قطعك

"क्या तू इससे ख़ुश नहीं कि जो तुझे जोड़ेगा मैं उसे जोड़ूँगा (अर्थात मेरी कृपा उसपर होगी)। और जो तुझे काटेगा मैं उसे काटूँगा (अर्थात् वह मेरी कृपा से वंचित रहेगा)।"

इसपर रहम (ख़ूनी रिश्ता) ने कहा,

"ऐ अल्लाह! मैं इससे ख़ुश हूँ।" (हदीस : बुख़ारी, किताबुत्-तफ़सीर, सूरा मुहम्मद बाब व तुक़त्तिऊ अरहामकुम मुस्लिम हवाला साबिक़)

इसी विषय की एक अन्य हदीस हज़रत आइशा (रज़ि०) से

रिवायत है कि अल्लाह के रसूल मुहम्मद (सल्ल॰) ने फ़रमाया—

اَلرَّحِمُ مُعَلَّقَةٌ بِالعرش تقول من وصلنی وصله الله و من قطعنی قَطَعَهُ الله۔

"रहम (ख़ूनी रिश्ता) अर्श (सिंहासन) को पकड़े हुए है और कहता है कि जो मुझे जोड़े, अल्लाह उसे (अपने से) जोड़े रखे और जो मुझे काट दे तो अल्लाह उसे (अपने से) काट दे।"

(हदीस : मुस्लिम किताबुल-बिर्र वस्सिला वल आदाब, बाबु सि-ल-तिर-रहिम, व तहरीमि क़तीअतिहा)

सिलारहमी (सम्बन्ध जोड़े रखने) की बहुत-सी सूरतें हो सकती हैं। उसमें सलाम-कलाम, मिलना-जुलना, एक-दूसरे के हालात से अवगत रहना और दुख-सुख में शामिल होना जैसी विभिन्न चीज़ें आती हैं। परन्तु कई पहलुओं से आर्थिक सहयोग को ज़्यादा अहमियत हासिल है। इस्लाम चाहता है कि समाज का हर वह व्यक्ति जिसकी आर्थिक एवं भौतिक स्थिति अच्छी हो वह परिवार के उन लोगों की मदद करे जो इसके मोहताज हैं और उन्हें इस योग्य बनाए कि जीवन में वे अपने कर्त्तव्यों को पूरा कर सकें। इस्लाम इस बात को सही नहीं समझता कि आदमी अपने ऐश और आराम में मग्न रहे और ख़ानदानवालों के दुख-दर्द को महसूस न करे और जो सहयोग वह कर सकता है उससे पीछे रहे। यह क़ता-रहम (रिश्ते तोड़ने) की संगीन स्थिति है।

परिवार का दीनी (धार्मिक) और अख़लाक़ी (नैतिक) प्रशिक्षण

बीवी-बच्चों और परिवारवालों की भौतिक एवं आर्थिक ज़रूरतों की पूर्ति के साथ ही उनकी दीनी और अख़लाक़ी हालत ठीक करने और उसे अच्छे-से-अच्छा बनाने की कोशिश होनी चाहिए। यह व्यक्ति के अपने दीन-ईमान और परिवारवालों के हितैषी होने की अनिवार्य अपेक्षा

है। इससे कोताही दुनिया और आख़िरत (लोक-परलोक) की तबाही का कारण होगी। क़ुरआन ने स्पष्ट रूप से कहा है—

يَاَيُّهَا الَّذِيْنَ اٰمَنُوْا قُوْٓا اَنْفُسَكُمْ وَاَهْلِيْكُمْ نَارًا وَّقُوْدُهَا النَّاسُ وَالْحِجَارَةُ

"ऐ ईमानवालो! बचाओ अपने आपको और अपने घरवालों को उस आग से जिसका ईंधन इनसान और पत्थर होंगे।"

(क़ुरआन, 66:6)

औलाद का लालन-पालन और विकास इस प्रकार हो कि वे मात्र हैवान या इच्छाओं के दास बनकर न रह जाएँ, बल्कि उनके अन्दर तक़वा (परहेज़गारी), ईशपरायणता और आख़िरत की जवाबदेही का एहसास पैदा हो। वे अल्लाह के वफ़ादार बन्दे और मानवता के हितैषी बनकर उभरें। दुनिया में भलाई और नेकी को फैलाएँ, बुराई और बिगाड़ को फैलने न दें और उनके अन्दर इस मार्ग पर चलने की तकलीफ़ें सहन करने का हौसला और साहस हो। हज़रत लुक़मान अपने बेटे से फ़रमाते हैं—

يٰبُنَيَّ اَقِمِ الصَّلٰوةَ وَاْمُرْ بِالْمَعْرُوْفِ وَانْهَ عَنِ الْمُنْكَرِ وَاصْبِرْ عَلٰى مَآ اَصَابَكَ اِنَّ ذٰلِكَ مِنْ عَزْمِ الْاُمُوْرِ ﴿١٧﴾

"ऐ मेरे बेटे! नमाज़ क़ायम करो, 'मारूफ़' (भलाई) का हुक्म दो और मुनकर (बुराई) से रोको और (इस राह में) जो तकलीफ़ तुम्हें पहुँचे उसपर सब्र करो। बेशक यह उन कामों में से है जो हिम्मत के हैं।" (क़ुरआन, 31:17)

हज़रत लुक़मान ने अपने बेटे को जिन बातों की शिक्षा दी थी, ये उनमें से कुछ ही हैं। उन्होंने और भी नसीहतें की थीं। बाप-बेटे के सम्बन्ध की नौइयत अन्य सम्बन्धों से भिन्न होती है। बाप की नसीहत को बेटा हुक्म समझकर क़बूल कर सकता है और उसी के अनुसार व्यवहार कर सकता है। इसकी अपेक्षा हर किसी से नहीं की जा सकती।

हाँ, इससे यह बात ज़रूर स्पष्ट हो जाती है कि परिवार के जो सदस्य इनसान के प्रभावाधीन हों और जो उसकी बात सुन सकते हों, उन सबको भलाई और कल्याण के मार्ग पर लगाना उसका दीनी (धार्मिक) और अख़लाक़ी (नैतिक) कर्त्तव्य है।

पारिवारिक और सामाजिक जीवन समस्या, व्याख्या और समाधान

निकाह का ख़ुत्बा

[निकाह के द्वारा एक नए परिवार की बुनियाद रखी जाती है। इस शुभ एवं पावन घड़ी में निकाह की मजलिसों में एक ख़ुत्बा (अभिभाषण) क़ाज़ी द्वारा पढ़ा जाता है। इसे ख़ुत्ब-ए-मसनूना कहा जाता है। इसलिए कि अल्लाह के रसूल मुहम्मद (सल्ल॰) निकाह के समय यही ख़ुत्बा पढ़ा करते थे और उसी वक़्त से यह सुन्नत चली आ रही है। एक इस्लामी परिवार किन बुनियादों पर क़ायम होता है, इसे समझने के लिए यह ख़ुत्बा काफ़ी है। यहाँ निकाह का ख़ुत्बा और उसका अनुवाद पेश किया जा रहा है।]

اَلْحَمْدُ لِلّٰهِ نَحْمَدُهٗ وَ نَسْتَعِيْنُهٗ وَنَسْتَغْفِرُهٗ وَنُؤْمِنُ بِهٖ وَ نَتَوَكَّلُ عَلَيْهِ وَنَعُوْذُ بِاللّٰهِ مِنْ شُرُوْرِ اَنْفُسِنَا وَمِنْ سَيِّئَاتِ اَعْمَالِنَا مَنْ يَّهْدِهِ اللّٰهُ فَلاَ مُضِلَّ لَهٗ وَمَنْ يُّضْلِلْهُ فَلاَ هَادِيَ لَهٗ وَنَشْهَدُ اَنْ لَّآ اِلٰهَ اِلاَّ اللّٰهُ وَحْدَهٗ لاَ شَرِيْكَ لَهٗ وَنَشْهَدُ اَنَّ مُحَمَّداً عَبْدُهٗ وَرَسُوْلُهٗ۔ اَعُوْذُ بِاللّٰهِ مِنَ الشَّيْطٰنِ الرَّجِيْمِ۔ بِسْمِ اللّٰهِ الرَّحْمٰنِ الرَّحِيْمِ○

"सारी तारीफ़ें (प्रशंसा) अल्लाह ही के लिए हैं, हम उसकी हम्द (तारीफ़ बयान) करते हैं, उससे मदद माँगते हैं, उससे अपने गुनाहों की क्षमा चाहते हैं और उसपर ईमान रखते हैं और उसी पर भरोसा करते हैं। हम अल्लाह की पनाह चाहते हैं अपने नफ़्स (मन) की बुराइयों से और अपने बुरे आमाल (कर्मों) के नतीजे से। जिसे अल्लाह हिदायत दे, उसे कोई भटका नहीं सकता और जिसे वह गुमराह कर दे

उसे कोई हिदायत नहीं दे सकता। मैं गवाही देता हूँ कि अल्लाह के सिवा कोई माबूद (पूज्य) नहीं। वह अकेला है। उसका कोई साझीदार नहीं और मैं गवाही देता हूँ कि मुहम्मद (सल्ल॰) अल्लाह के बन्दे और उसके रसूल हैं।

يَاَيُّهَا النَّاسُ اتَّقُوْا رَبَّكُمُ الَّذِيْ خَلَقَكُمْ مِّنْ نَّفْسٍ وَّاحِدَةٍ وَّخَلَقَ مِنْهَا زَوْجَهَا وَبَثَّ مِنْهُمَا رِجَالًا كَثِيْرًا وَّنِسَآءً ۚ وَاتَّقُوا اللّٰهَ الَّذِيْ تَسَآءَلُوْنَ بِهٖ وَالْاَرْحَامَ ۭ اِنَّ اللّٰهَ كَانَ عَلَيْكُمْ رَقِيْبًا ①

ऐ इनसानो! अपने रब से डरो जिसने तुम्हें एक जान से पैदा किया, और उसी जान से उसका जोड़ा बनाया, और उन दोनों से बहुत-से मर्द और औरत दुनिया में फैला दिए। उस अल्लाह से डरो जिसका वास्ता देकर तुम एक-दूसरे से अपने हक़ माँगते हो, और रहम के रिश्तों (ख़ूनी-रिश्तों) को जोड़े रखो। बेशक अल्लाह (हर पल) तुम्हारी निगरानी कर रहा है।" (क़ुरआन, 4:1)

يَاَيُّهَا الَّذِيْنَ اٰمَنُوا اتَّقُوا اللّٰهَ حَقَّ تُقٰتِهٖ وَلَا تَمُوْتُنَّ اِلَّا وَاَنْتُمْ مُّسْلِمُوْنَ ⑩

"ऐ ईमानवालो, अल्लाह से डरो, जैसा कि उससे डरने का हक़ है, और तुम्हें मौत आए तो इस दशा में कि तुम उसके आज्ञाकारी हो।" (क़ुरआन, 3:102)

يَاَيُّهَا الَّذِيْنَ اٰمَنُوا اتَّقُوا اللّٰهَ وَقُوْلُوْا قَوْلًا سَدِيْدًا ۙ يُّصْلِحْ لَكُمْ اَعْمَالَكُمْ وَيَغْفِرْ لَكُمْ ذُنُوْبَكُمْ ۭ وَمَنْ يُّطِعِ اللّٰهَ وَرَسُوْلَهٗ فَقَدْ فَازَ فَوْزًا عَظِيْمًا ⑪

"ऐ ईमानवालो! डरो अल्लाह से और जाँच-परखकर सही बात कहो, वह तुम्हारे आमाल (कर्मों) की इस्लाह (सुधार) फ़रमा देगा, तुम्हारे गुनाहों को माफ़ कर देगा। जिस व्यक्ति ने अल्लाह और उसके रसूल का आज्ञापालन किया उसने महान कामयाबी हासिल कर ली।" (क़ुरआन, 33:70-71)

इस ख़ुत्बे के बाद एक हदीस भी पेश की जाती है जिससे निकाह की अहमियत और स्पष्ट हो जाती है।

وقال رسول اللہ صلی اللہ علیہ وسلم اما واللہ انی لاخشا کم للہ واتقا کم لہ لکنی اصوم و افطر و اصلی و ارقد و اتزوج النساء فمن رغب عن سنتی فلیس منی۔

"सुनो! ख़ुदा की क़सम, मैं तुम सबसे ज़्यादा अल्लाह से डरने और उसका तक़वा रखनेवाला हूँ, लेकिन मैं (नफ़्ल) रोज़े रखता भी हूँ और नहीं भी रखता। (रात में) नमाज़ पढ़ता भी हूँ और सोता भी हूँ। मैं औरतों से निकाह भी करता हूँ। यह मेरा तरीक़ा है, जिसने मेरे तरीक़े की अवहेलना की, उसका मुझसे कोई सम्बन्ध नहीं।"

(हदीस : बुख़ारी)

ऊपर निकाह का ख़ुत्बा पेश किया गया, अब इसपर थोड़ी व्यापक दृष्टि डाली जाए। इस ख़ुत्बे में अल्लाह की तारीफ़ और मुहम्मद (सल्ल॰) पर दुरूद-सलाम के बाद क़ुरआन के अलग-अलग स्थानों से चार आयतें पढ़ी जाती हैं। उन आयतों पर ग़ौर करने से मालूम होता है कि उनके चयन में बड़ी तत्त्वदर्शिता एवं सार्थकता है। निकाह के अवसर पर जो बातें कही जा सकती हैं या जो नसीहत की जा सकती है और दूल्हा-दुल्हन का जिन तथ्यों की ओर ध्यान दिलाया जा सकता है, वे सभी इन आयतों में बयान कर दिए गए हैं।

इनमें सबसे पहली आयत सूरा-4, अन-निसा की है। फ़रमाया, "ऐ लोगो! अपने रब से डरो।" आयत की शुरुआत इस हिदायत से होती है कि अल्लाह का तक़वा अपनाओ और उससे डरते रहो। निकाह के ख़ुत्बे में जो चार आयतें पढ़ी जाती हैं, उनमें पाँच बार तक़वा (परहेज़गारी) और अल्लाह से डरने का हुक्म है। बार-बार इस हिदायत की पुनरावृत्ति की जा रही है। इसकी अहम वजह यह है कि दो मौक़े ऐसे होते हैं जहाँ

आदमी अल्लाह को भूल जाता है। एक ख़ुशी का मौक़ा और दूसरा ग़म का। ख़ुशी के मौक़े पर अल्लाह के उपकार और एहसान याद नहीं रहते और ग़म तथा दुख के अवसर पर अल्लाह का सम्मान आदमी भूल जाता है और उसकी शान में ज़बान से गुस्ताख़ी करने लगता है, अर्थात् दुख के अवसर पर आदमी की ज़बान से ऐसी-ऐसी बातें अनजाने में निकलने लगती हैं जो अल्लाह की शान के ख़िलाफ़ होती हैं। इस ख़ुत्बे में अल्लाह का डर रखने की बात कहकर जैसे यह संदेश दिया जा रहा है कि यह तुम्हारी ख़ुशी का मौक़ा है, परन्तु अल्लाह को न भूलो, उसके आदेशों को अनदेखा न करो और यह सोचकर ज़िन्दगी गुज़ारो कि तुम्हारा एक रचयिता, स्वामी और आक़ा है, उससे डरकर ज़िन्दगी गुज़ारने ही में तुम्हारी भलाई है। क़ुरआन में कई स्थानों पर इसका उल्लेख है, यहाँ एक ख़ास पहलू की ओर ध्यान दिलाया गया है। फ़रमाया, "तुम्हारा रब वह है जिसने तुम सबको एक माँ-बाप से पैदा किया, पहले आदम (अलैहि॰) को पैदा किया, फिर उसी से उसका जोड़ा (हव्वा अलैहि॰) बनाया।"

निकाह के अवसर पर इस आयत का पढ़ा जाना बहुत सार्थक एवं प्रासंगिक है। इसके माध्यम से याद दिलाया जा रहा है कि तुम्हारे बीच अनगिनत भिन्नताएँ होंगी। रंग-रूप की भिन्नता, माल-दौलत की भिन्नता, क्षेत्र, भाषा, हैसियत, ज्ञान आदि की भिन्नता होगी, लेकिन याद रखो तुम सब एक माँ-बाप की औलाद हो। हाँ, यह ज़रूर है कि तुममें से कोई हिन्दुस्तान में पैदा हुआ है और कोई अरब में, कोई यूरोप में पैदा हुआ है और कोई एशिया में, लेकिन यह कोई वास्तविक भिन्नता नहीं है, इसलिए कि तुम सबका मूल एक है।

यह जो फ़रमाया गया कि "अल्लाह ने तुम्हें एक जान से पैदा किया, और उसका जोड़ा भी उसी से पैदा किया।" इसमें एक बड़ी हक़ीक़त पर से पर्दा हटाया गया है। वह यह कि पहले इनसान हज़रत आदम (अलैहि॰) का जोड़ा (हज़रत हव्वा अलैहि॰) उन्हीं के अन्दर से

था। इसी प्रकार तुम्हें जो जोड़ा मिल रहा है वह भी तुम्हारे ही अन्दर से निकला है। तुम्हारे ही शरीर का जैसे अंग है। उसे अपने से अलग न समझो। कुछ विद्वानों ने इस आयत की व्याख्या इस रूप में की है कि हज़रत आदम (अलैहि०) का जोड़ा उन्हीं की जिन्स (मनुष्य-जाति) से था। इसका मतलब तुम्हारा जोड़ा भी तुम्हारी ही जिन्स से है, कोई गाय-भैंस या अन्य प्राणी नहीं है जो तुम्हारे साथ लगा दी गई हो या तुम ख़रीदकर ले जा रहे हो।

एक हदीस में है कि इनसान की बीवी उसकी पसली से निकली है। दर हक़ीक़त यह एक सुन्दर ताबीर (उपमा) है, पति-पत्नी के सामीप्य एवं निकट सम्बन्ध की इतनी सुन्दर व्याख्या शायद ही किसी दूसरे तरीक़े से हो सकती है। यदि आदमी यह मान ले कि उसकी पत्नी उसके जिस्म का एक हिस्सा है तो उसके साथ उसका व्यवहार भी वैसा ही होगा जैसा जिस्म के किसी अंग के साथ होता है। वह यदि ख़राब भी हो जाए तो उसके प्रति एक लगाव एवं सहानुभूति होती है, उसे काटकर फेंकने की कोशिश नहीं होती।

इसी आयत में आगे फ़रमाया गया-- وَبَثَّ مِنْهُمَا رِجَالًا كَثِيرًا وَنِسَاءً--- हज़रत आदम (अलैहि०) और हज़रत हव्वा (अलैहि०) के ज़रीए से अल्लाह ने बहुत-से मर्द और औरतें पैदा कीं और दुनिया में उन्हें फैला दिया। इस प्रकार मानव-जाति का सिलसिला जारी हुआ। इसके लिए मर्द और औरत दोनों की ज़रूरत थी, किसी एक से यह सिलसिला जारी नहीं रह सकता था। अतः उनमें से न कोई श्रेष्ठ है और न निम्न है, दोनों की अहमियत बराबर है।

इन शब्दों के माध्यम से दाम्पत्य सम्बन्ध का एक अहम मक़सद बयान हुआ है, वह है मानव-जाति का विकास और फैलाव। इसके बिना मात्र यौन-सुख एवं तृप्ति निकाह का वास्तविक मक़सद नहीं है। हदीस में आया है कि मुहम्मद (सल्ल०) ने फ़रमाया—

"ऐसे ख़ानदान में निकाह करो जहाँ सन्तान पैदा होती है, कल क़ियामत के दिन मैं तुम्हारी अधिकता पर गर्व करूँगा।"

फिर फ़रमाया—

وَاتَّقُوا اللّٰهَ الَّذِیْ تَسَآءَلُوْنَ بِهٖ وَالْاَرْحَامَ

"उस अल्लाह से डरते रहो जिसका नाम लेकर तुम एक-दूसरे के अधिकारों और सहयोग का सवाल करते हो, जब कोई समस्या उत्पन्न होती है तो उसी के नाम से हल करना चाहते हो। उससे हमेशा डरते रहो, रिश्तों का ख़याल रखो और रिश्ता तोड़ने जैसी बुराई से बचो।"

इस समय एक नया सम्बन्ध स्थापित होने जा रहा है, पति-पत्नी का सम्बन्ध, जो जल्द ही बाप और माँ बननेवाले हैं, फिर एक नया परिवार अस्तित्व में आएगा, सम्बन्धों का विस्तार होगा— भाई, बहन, चाचा, मामा, फूफी, मौसी, दादा, नाना आदि। ऐसे में सम्बन्धों के बीजारोपण के समय ही सचेत कर दिया जाना कितना प्रासंगिक है कि सम्बन्ध की मर्यादा बनाए रखना, इसका सम्मान करना और सम्बन्ध-विच्छेद जैसी बुराई से बचना। यह बात इसलिए भी याद दिलाई गई कि आदमी एक परिवार का सदस्य है। दाम्पत्य सम्बन्ध की ख़ुशी में अन्य सम्बन्धों को भूल न जाए। निस्सन्देह यह नया सम्बन्ध स्थापित हो रहा है, इसमें बहुत आकर्षण है, इसका सम्मान करना और इसके प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करना ज़रूरी है, परन्तु इस नए रिश्ते के कारण पुराने रिश्तों को न भूलो। इसके बाद फ़रमाया गया— اِنَّ اللّٰهَ كَانَ عَلَيْكُمْ رَقِيْبًا... "डरते रहो अल्लाह से, अल्लाह देख रहा है। यह न समझो कि वह कहीं ग़ायब है, उसकी निगाह से कोई चीज़ छुपी हुई नहीं है।" इसलिए यह अच्छी तरह समझकर इस नई ज़िन्दगी का आग़ाज़ करो कि अल्लाह देख रहा है। यदि तुमने इस अवसर पर कोई ग़लत हरकत की,

सुन्नत या शरीअत के आदेशों के विपरीत कोई ऐसा काम किया तो ऐसा नहीं है कि वह अल्लाह की निगाह से छुप जाए और तुम उसकी पकड़ से बच जाओ। ख़ुशी के इस मौक़े पर इससे बड़ी बात और क्या कही जा सकती है कि अल्लाह तुम्हारे हर काम को देख रहा है।

ख़ुत्ब-ए-निकाह में दूसरी आयत सूरा-3, आले-इमरान की है। इस आयत का आग़ाज इन शब्दों से हुआ है— يَٰٓأَيُّهَا ٱلَّذِينَ ءَامَنُوا۟ ٱتَّقُوا۟ ٱللَّهَ حَقَّ تُقَاتِهِۦ "ऐ ईमानवालो! अल्लाह से डरो, जैसा कि डरना चाहिए।" यहाँ 'तक़वा' (अल्लाह का डर) शब्द का प्रयोग किया गया है। तक़वा का अर्थ है— ईशभक्ति की राह अपनाना, अल्लाह के आदेशों का पालन करना और उसके द्वारा मना किए गए क़ामों से बचना। इस आयत में जो बात कही गई है, कभी-कभी उसकी अहमियत महसूस नहीं की जाती। यह विचार दिमाग़ के किसी कोने में होता है कि जब हम अल्लाह और रसूल को मानते हैं, शरीअत के आदेशों से अवगत हैं और उसपर अमल भी करते हैं तो उसके तक़ाज़े (अपेक्षाएँ) पूरे हो ही रहे हैं। परन्तु ध्यान देने योग्य पहलू यह है कि क़ुरआन ने यहाँ केवल 'तक़वा' का आदेश नहीं दिया है, बल्कि उसकी अपेक्षा यह है कि 'तक़वा' का हक़ अदा किया जाए और पूरी तरह ख़ुदा से डर कर ज़िन्दगी गुज़ारी जाए। यह एक कठिन काम है। तक़वा का हक़ अदा करना सामान्यतः इनसान की सामर्थ्य से बाहर है। कभी-कभी इनसान की हिम्मत जवाब दे सकती है और तक़वा का दामन उसके हाथ से छूट भी सकता है। इसलिए दूसरी जगह फ़रमाया— فَٱتَّقُوا۟ ٱللَّهَ مَا ٱسْتَطَعْتُمْ "अल्लाह से डरते रहो, जितनी तुममें सामर्थ्य हो।" अल्लाह ख़ूब जानता है कि किसके अन्दर कितनी सामर्थ्य है और कौन-सा काम उसकी सामर्थ्य से बाहर है। इसी आधार पर वह उसके साथ मामला करेगा। तक़वा की क्या अहमियत है, उसके क्या तक़ाज़े हैं, इसे बाद के शब्दों से समझा जा सकता है। फ़रमाया गया— وَلَا تَمُوتُنَّ إِلَّا وَأَنتُم مُّسْلِمُونَ "तुम्हें कभी मौत न आए लेकिन इस हाल में

कि तुम मुस्लिम (आज्ञाकारी) हो।"

मतलब यह कि ज़िन्दगी भर और मरते दम तक इस्लाम पर क़ायम रहो। जब भी मौत का फ़रिश्ता आए, जवानी में, बुढ़ापे में, सेहत की हालत में, मर्ज़ की हालत में, दिन के उजाले में, रात के अंधेरे में, सोते या जागते में, सफ़र में अथवा विश्राम की हालत में, तुम्हें इस्लाम की हालत में पाए और अल्लाह के फ़रमाँबरदार (आज्ञाकारी) की हैसियत से उसके दरबार में पहुँचो।

यहाँ एक विचार मन में आ सकता है, वह यह कि शादी और ख़ुशी के अवसर पर मौत की चर्चा का क्या अर्थ, क्या यह अप्रासंगिक बात नहीं है?

हक़ीक़त यह है कि निकाह के बन्धन के ज़रीए से एक मर्द और एक औरत ज़िन्दगी का नया सफ़र शुरू करते और नई ज़िम्मेदारियों का बोझ उठाते हैं। इस समय उन्हें याद दिलाया जा रहा है कि ज़िन्दगी के इस नए सफ़र में बहुत-से उतार-चढ़ाव आ सकते हैं, लेकिन तुम्हें इस संकल्प के साथ क़दम बढ़ाना चाहिए कि जब तक जान में जान है और साँसों की डोर चल रही है अल्लाह के फ़रमाँबरदार बने रहोगे और किसी हाल में उसकी फ़रमाँबरदारी से विचलित न होगे।

ख़ुत्ब-ए-निकाह में तीसरी और चौथी आयतें सूरा-33, अल-अहज़ाब के अन्तिम रुकूअ की हैं। इनकी शुरुआत भी तक़वा के हुक्म से हुई है-- يَٰٓأَيُّهَا ٱلَّذِينَ ءَامَنُوا ٱتَّقُوا ٱللَّهَ "ऐ ईमानवालो! अल्लाह से डरते रहो।" तक़वा की ओर क़दम-क़दम पर इस प्रकार ध्यान दिलाने की ज़रूरत इसलिए थी कि इस मौक़े पर पुराने सम्बन्धों के साथ नए सम्बन्ध भी अस्तित्व में आ रहे हैं। शादी के बाद कुछ समय तक आदमी पर जज़्बाती कैफ़ियत छाई रहती है, इसमें उन सम्बन्धों को ठेस पहुँचने की आशंका रहती है। इसलिए बार-बार तक़वा पर ज़ोर दिया गया और सचेत किया गया कि आदमी अल्लाह से डरते हुए अपना

रवैया (व्यवहार) सुनिश्चित करे और कोई ऐसा क़दम न उठाए जिससे रिश्तों का सम्मान धूमिल हो और रिश्तों की अपेक्षाएँ पूरी होने से रह जाएँ।

इसके बाद फ़रमाया, وَقُوْلُوْا قَوْلاً سَدِيْدًا "और सीधी-सच्ची बात कहो।" इन शब्दों के द्वारा निकाह के सन्दर्भ में एक अहम बात की ओर ध्यान दिलाया गया है। आदमी सामान्यतः दो शब्द बोलकर दाम्पत्य सम्बन्ध से बँध जाता है। उसे यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि यह कोई मज़ाक़ नहीं बल्कि एक संजीदा संकल्प एवं प्रतिज्ञा है जो अपने साथ बहुत-सी ज़िम्मेदारियाँ लेकर आती है, इसलिए शादी के बन्धन में बँधनेवाले जोड़े में से प्रत्येक को बहुत सोच-समझकर निकाह के रिश्ते को स्वीकार करना चाहिए। इसे हँसी-मज़ाक़ या सामयिक मनोरंजन का काम समझना बहुत बड़ी नादानी होगी। हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) का कथन है—

ثلاث جدّهن جدّ وهزلهن جدّ النكاح والطلاق والرجعة۔

> "तीन चीज़ें ऐसी हैं कि उनके सम्बन्ध में जो संजीदा बात कही जाएगी वह संजीदा ही समझी जाएगी (और उसके हक़ीक़ी मानी मुराद होंगे) और जो मज़ाक़ में कही जाएगी वह भी संजीदा ही मानी जाएगी। वे हैं निकाह, तलाक़ और उससे रुजूअ।"
>
> (हदीस : तिर्मिज़ी व अबू-दाऊद व इब्ने-माजा (मिश्कातुल-मसाबीह, किताबुन-निकाह, बाबुल-खुलअ वत-तलाक़, मअ मिरक़ातुल मफ़ातीह 6/426-427))

कुछ अन्य रिवायतों में इसी क्रम में ग़ुलाम को आज़ाद करने का ज़िक्र भी आता है। इसका मतलब यह है कि निकाह, तलाक़ और उससे रुजूअ या ग़ुलाम को आज़ाद करना, ये वे मामले नहीं हैं जिनमें ग़ैर-संजीदा रवैया अपनाया जाए। यदि आदमी मज़ाक़ में भी इस

सिलसिले में कोई क़दम उठाए तो वह लागू हो जाएगा।

इसके बाद फ़रमाया— يُصْلِحْ لَكُمْ اَعْمَالَكُمْ وَ يَغْفِرْ لَكُمْ ذُنُوبَكُمْ "वह तुम्हारे आमाल (कर्मों) को दुरुस्त (ठीक) कर देगा और तुम्हारे गुनाहों को माफ़ कर देगा।"

निकाह के सन्दर्भ में इसका मतलब यह है कि यदि तुम तक़्वा की ज़िन्दगी गुज़ारना चाहते हो और उसी मक़सद से निकाह कर रहे हो तो अल्लाह तुम्हारे आमाल को सुधार देगा, बिगाड़ और बुराई से बचाएगा और तुम्हें सीधे रास्ते पर चलाएगा। नबी (सल्ल॰) ने फ़रमाया—

> "अल्लाह तीन तरह के इनसानों की ज़रूर मदद करता है। उनमें से एक वह है जो इस मक़सद से निकाह करता है कि पवित्रता एवं सदाचार की ज़िन्दगी गुज़ारे।"
>
> (हदीस : तिर्मिज़ी, नसई, इब्ने-माजा)

तक़्वा का रास्ता अपनाने के बावुजूद आदमी ग़लतियों और कोताहियों से महफ़ूज़ नहीं रह सकता। इसलिए इत्मीनान दिलाया गया है कि अल्लाह इन्हें अपने करम से माफ़ कर देगा। जो व्यक्ति तक़्वा की ज़िन्दगी गुज़ारे उसपर अल्लाह का यह बहुत बड़ा एहसान होता है कि वह उसकी अच्छाइयों को स्वीकार करता है और उसकी बुराईयों को माफ़ कर देता है।

आयतों के अन्तिम शब्द हैं— وَ مَنْ يُّطِعِ اللّٰهَ وَ رَسُوْلَهٗ فَقَدْ فَازَ فَوْزًا عَظِيْمًا "और जिसने अल्लाह और उसके रसूल की इताअत (फ़रमाँबरदारी) की उसने बड़ी कामयाबी हासिल की।"

इस दुनिया में हर व्यक्ति सफल जीवन गुज़ारना चाहता है। शादी के अवसर पर भी वह सफलता के ख़ाब देखता है। परन्तु यह नहीं जानता कि सफल कौन है और असफल कौन? सफल वह नहीं है जिसे दुनिया की दौलत मिल गई, जो ज़मीन-जायदाद, कोठी-बँगले का मालिक हो गया और राज्य एवं सत्ता जिसके हाथ आ गई, बल्कि सफल वह है

जिसकी गर्दन में अल्लाह और उसके रसूल की फ़रमाँबरदारी का पट्टा है और जो हर लाभ-हानि से निस्पृह होकर उनके बताए हुए रास्ते पर चल रहा है। वह सफलता के उस उच्च शिखर पर है कि कोई दूसरा वहाँ नहीं पहुँच सकता।

यह उन आयतों का, जो निकाह के समय ख़ुत्बे में पढ़ी जाती हैं, सीधा-सादा अनुवाद एवं भावार्थ है। इनपर ग़ौर करने से इस यक़ीन में बढ़ोत्तरी होती है कि निकाह के शुभ अवसर पर इनसे अच्छी आयतों का चयन नहीं हो सकता।

ख़ुत्बे के अन्त में अल्लाह के रसूल मुहम्मद (सल्ल॰) की एक हदीस भी पेश की जाती है। इसकी पृष्ठभूमि यह है कि कुछ सहाबा (मुहम्मद सल्ल॰ के साथी) ने आपकी आदरणीय पत्नी से आप (सल्ल॰) की दिनचर्या पूछी। जब उसके बारे में बताया गया तो उन्होंने इसे बहुत कम माना और कहा कि अल्लाह ने आप (सल्ल॰) की मग़फ़िरत (माफ़) फ़रमा दी है इसलिए थोड़ा अमल भी आपके लिए काफ़ी हो सकता है। हमारे लिए इससे ज़्यादा की ज़रूरत है। इस भावना से प्रेरित होकर उनमें से एक ने कहा कि मैं रात-भर नमाज़ पढ़ूँगा, आराम नहीं करूँगा। दूसरे ने कहा कि मैं लगातार रोज़े रखूँगा और कभी रोज़े नाग़ा नहीं करूँगा। तीसरे ने कहा कि मैं तो शादी ही नहीं करूँगा, ताकि अल्लाह की इबादत में एकाग्रता प्राप्त हो। अल्लाह के रसूल मुहम्मद (सल्ल॰) को जब इन बातों का इल्म हुआ तो आपने इर्शाद फ़रमाया—

اما واللہ انی لاخشاکم للہ واتقاکم لہ لکنی اصوم وافطر واصلی وارقد و

اتزوج النساء فمن رغب عن سنتی فلیس منی۔

"सुनो! ख़ुदा की क़सम, मैं तुम सबसे ज़्यादा अल्लाह से डरने और उसका तक़वा रखनेवाला हूँ, लेकिन मैं (नफ़्ल) रोज़े रखता भी हूँ और नहीं भी रखता। (रात में) नमाज़ पढ़ता भी हूँ और सोता भी हूँ। मैं औरतों से निकाह भी

करता हूँ। यह मेरा तरीक़ा है, जिसने मेरे तरीक़े की अवहेलना की, उसका मुझसे कोई सम्बन्ध नहीं।"

(हदीस : बुख़ारी किताबुन्-निकाह बाबुत्-तरग़ीब फ़िन-निकाह, मुस्लिम किताबुन्-निकाह)

यह हदीस तक़्वा और दीनदारी (ईशपरायणता) के लिए संन्यास पूर्ण अवधारणा का खंडन करती है। रहबानियत (संन्यास) यह है कि आदमी रात-दिन अल्लाह की इबादत में इस तरह लग जाए कि दुनिया से उसका सम्बन्ध कमज़ोर से कमज़ोर होता चला जाए और अन्ततः समाप्त हो जाए। हालाँकि वास्तविक दीनदारी यह है कि आदमी का एक ओर अल्लाह से सम्बन्ध मज़बूत होता चला जाए और दूसरी ओर वह इनसानों के अधिकारों को भूल न बैठे। इसमें शरीर, प्राण, बीवी, बच्चों और अन्य लोगों के अधिकार सम्मिलित हैं। अल्लाह के रसूल मुहम्मद (सल्ल॰) ने अपने पवित्र जीवन से इसका सुबूत पेश किया है। यह हदीस और आपकी अनुकरणीय जीवन-शैली बताती है कि दाम्पत्य जीवन आपकी सुन्नत है। इससे भागना आदमी को उस राह से हटा देगा जो आप (सल्ल॰) ने बताई है और जो सीधी सच्ची एवं मानव-स्वभाव के अनुकूल है।

लड़की ससुराल में

आज जिधर देखिए हमारे मुल्क में लड़कियों पर ससुरालवालों के अत्याचार की चर्चा आम है। दहेज न लाने अथवा कम लाने पर उसे मारा-पीटा जाता है, कभी उसे असंस्कारी अथवा ज़बान की तेज़ बताया जाता है, कभी कहा जाता है कि वह आलसी और कामचोर है। कभी उसे इसलिए परेशान किया जाता है कि उसके अन्दर घर-गृहस्थी चलाने का सलीक़ा नहीं है। कभी शक्ल-सूरत की ख़राबी और शिक्षा की कमी का ताना दिया जाता है। प्रायः औरत इसे ज़िन्दगी का अनिवार्य अंग समझकर चुपचाप सब कुछ सहती रहती है, परन्तु यदि वह अपनी प्रतिरक्षा की कोशिश करे और शिकायत करे तो उसपर कठोर से कठोर यातना के पहाड़ तोड़े जा सकते हैं— बल्कि तोड़े जाते हैं। अब यह तो एक आम बात हो गई है कि क़ीमती सामान और ज़ेवरों के साथ फ़रार होने का इल्ज़ाम लगाकर उसे घर से निकाल दिया जाता है। कभी-कभी तो निर्ममता से उसकी हत्या कर यह प्रचार कर दिया जाता है कि रसोईघर में जलकर मर गई या बिजली के झटके का शिकार हो गई या छत से गिर पड़ी। सारी दुनिया जानती है कि इस प्रकार के प्रचारों में कोई सच्चाई नहीं होती। इसे एक संगीन जुर्म पर परदा डालने की अशोभनीय कोशिश समझा जाता है। हालात ज़्यादा ख़राब होते हैं तो बेचारी ख़ुद भी तंग आकर आत्महत्या कर बैठती है। शायद इससे पहले भी यह सब कुछ होता था, परन्तु इसकी चर्चा एक सीमित दायरे में सिमटकर रह जाती थी, परन्तु वर्तमान सक्रिय मीडिया-तंत्र के कारण अब इसकी चर्चा आम होने लगी है। मीडिया द्वारा जो घटनाएँ उजागर हो रही हैं उनसे पूरे मुल्क की हालत का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है।

मूलतः दहेज की समस्या ग़ैर-मुस्लिम समाज में अधिक गम्भीर है, इसपर सभी चिन्तकों और समाज-सुधारकों को गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए। अब इसका प्रभाव मुस्लिम समाज पर भी देखने को

मिलता है। मुसलमानों में भी सास-बहू के झगड़े चर्चा में रहते हैं। तरह-तरह से औरत को ससुराल में परेशान किया जाता है। इस सम्बन्ध में कुछ बातों पर ध्यान देना ज़रूरी है—

(1) सबसे पहली बात तो यह कि हमें लड़की के बारे में सोचते समय लड़के को भी सामने रखना चाहिए। इससे बहुत-सी उलझनें दूर हो सकती हैं। लड़के और लड़की का अपनी ससुराल से सीधा सम्बन्ध नहीं होता है। इसमें सीधे तौर पर वह आकर्षण नहीं होता जो ख़ूनी रिश्तों में होता है। एक अजनबी लड़की को लड़के के रिश्तेदारों से उतनी ही मुहब्बत हो सकती है जितनी कि ख़ुद लड़के को अपने ससुरालवालों से होती है। लड़का अपनी पत्नी के कारण ससुराल से मुहब्बत करता है। उसी प्रकार लड़की का सम्बन्ध ससुराल से मात्र अपने पति के कारण होता है। यदि ये दोनों बीच से हट जाएँ तो सम्बन्धों की कोई मज़बूत बुनियाद बाक़ी नहीं रहेगी और एक प्रकार की अजनबियत पैदा हो जाएगी। इसलिए अगर दोनों ओर के परिवारवालों के दिमाग़ में यह बात अच्छी तरह बैठ जाए कि उन्हें बहू और दामाद की वजह से जो मुहब्बत मिली है तो बेजा और नामुनासिब उम्मीदें क़ायम न होंगी और शिकवे-शिकायतों की सूरत पैदा न होगी।

(2) इस हक़ीक़त को स्वीकार करना चाहिए कि शादी के बाद लड़के की ज़िन्दगी में एक नया व्यक्तित्व प्रवेश कर गया है। बीवी अब उसकी जीवन-साथी और हमसफ़र है। उन दोनों को मिल-जुलकर अपनी ज़िन्दगी की योजना बनानी है और उसपर अमल करना है। इसके लिए अल्लाह ने उनके अन्दर असाधारण आकर्षण एवं प्रेम रख दिया है। इसी प्रेम के कारण वे ज़िन्दगी-भर एक-दूसरे का जी-जान से सहयोग करते हैं और परिस्थितियों की धूप-छाँव को सहर्ष बरदाश्त करते हैं। इस मुहब्बत से लड़की के माता-पिता को तो ख़ुशी होती है। वे ख़ुश होते हैं कि लड़की अपने पति की मुहब्बत से प्रसन्न एवं सन्तुष्ट है, परन्तु लड़के के माता-पिता, विशेषकर उसकी माँ पर इसके विपरीत प्रतिक्रिया होती है।

वे समझते हैं कि अब लड़के के दिल में केवल उनकी मुहब्बत नहीं रह गई है, बल्कि उसमें उसकी पत्नी भी सम्मिलित हो गई है। वह जब देखते हैं कि लड़का अपनी पत्नी को चाह रहा है और उससे असाधारण प्रेम कर रहा है तो ख़ुद लड़के के प्रति दुर्भावना पाल लेते हैं और उसकी पत्नी को अपना विरोधी समझने लगते हैं। वे चाहते हैं कि शादी के बाद भी लड़के की मुहब्बत केवल उनके लिए विशेष होकर रहे और पत्नी से उसका सम्बन्ध मात्र औपचारिक रहे। यह बिल्कुल अस्वाभाविक बात है। इसकी अपेक्षा कदापि नहीं करनी चाहिए।

(3) शादी के बाद लड़के और लड़की पर यौन-सम्बन्ध बनाने की भावना अति तीव्र होती है। वे इसकी बार-बार तृप्ति चाहते हैं। यह उनके युवावस्था की एक स्वाभाविक माँग है, लेकिन अकसर घर के बड़े-बुज़ुर्गों का रवैया ऐसा होता है जैसे यह कोई ग़लत और अशोभनीय सम्बन्ध है, हालाँकि यह बात सही नहीं है। यह एक जाइज़ और पसन्दीदा सम्बन्ध है। इससे इनसान को मानसिक एवं शारीरिक सुकून मिलता है और पति-पत्नी के बीच मुहब्बत पैदा होने और बढ़ने का एक स्वाभाविक माध्यम है। शरीअत के नज़दीक इस सम्बन्ध पर इनसान सवाब का पात्र होता है।

इसमें शक नहीं कि इसमें हद से आगे बढ़ना हानिकारक है। इसके सुधार के लिए उचित तरीक़े अपनाए जा सकते हैं। इसपर नापसन्दीदगी व्यक्त करना या रोक लगाने की कोशिश सही नहीं है। इससे लड़के-लड़की दोनों ही पर कोई अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। यौन-सम्बन्ध में जब उन्हें उतनी आज़ादी नहीं मिलती जितनी कि उन्हें स्वाभाविक रूप से मिलनी चाहिए तो उनके अन्दर आपराधिक मनोवृत्ति जन्म लेती है और वे एक प्रकार के मानसिक तनाव और कशमकश में घिर जाते हैं। इस मामले में घर के बड़े-बुज़ुर्ग प्रायः अपनी जवानी का दौर भूल जाते हैं कि उन्हें अपने बुज़ुर्गों के इस प्रकार के व्यवहार से कितनी तकलीफ़ पहुँचती थी और वे किस प्रकार इसे अपना

अधिकार-हनन और एक प्रकार की ज़्यादती समझते थे। कभी-कभी यह ज़्यादती भी होती है कि यौन-सम्बन्ध का अस्ल मुजरिम (दोषी) लड़की को समझा जाता है, जैसे लड़का बहुत मासूम स्वभाव का है, हालाँकि ये सब नादानी की बातें हैं। इससे लड़की के दिल में ससुरालवालों के प्रति मुहब्बत क्या पैदा होगी, बल्कि नफ़रत और घृणा बढ़ेगी।

(4) इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि कभी-कभी लड़की में भी कमज़ोरियाँ होती हैं। कभी उसमें ख़ानदानी घमंड होता है, कभी उसे अपनी हैसियत पर नाज़ होता है, कभी वह गरम स्वभाव की और झगड़ालू होती है, कभी उसके अन्दर आज्ञाकारिता एवं समर्पण-भावना की कमी होती है। उसकी इन कमज़ोरियों को उसके माता-पिता तो सहन करते रहते हैं, बल्कि प्रायः अपनी मुहब्बत के कारण उन कमज़ोरियों को मानने के लिए तैयार भी नहीं होते, परन्तु विभिन्न मनोवैज्ञानिक कारकों के आधार पर ससुराल से इसकी अपेक्षा नहीं की जा सकती। उनके अन्दर मुहब्बत के वे जज़्बात नहीं होते जो लड़की के माता-पिता में होते हैं, इसलिए उसकी ग़लतियों को नज़रअन्दाज़ करके उसके साथ अच्छा व्यवहार करना उनके लिए मुश्किल होता है। परन्तु यह भी एक सच्चाई है कि ससुराल में उसके साथ जो बुरा व्यवहार होता है उसका भी कोई औचित्य नहीं है। एक लड़की जो कम-उम्र है, जिसमें अनुभव की कमी है, उसे अचानक एक नए माहौल का सामना करना होता है। उससे यह अपेक्षा की जाती है कि वह इस माहौल में पूरी तरह ख़ुद को ढाल ले और तुरन्त इसके अनुकूल बन जाए। यह अपेक्षा बेकार है। हर परिवार की, बल्कि हर व्यक्ति की, जीवन-शैली और तौर-तरीक़े भिन्न होते हैं। खाने-पीने, पहनने-औढ़ने की रुचि अलग होती है। लड़की को ससुराल के स्वभाव एवं रुचियों को समझने, अपनी रुचियों को छोड़कर उनकी रुचियों को अपनाने या अपनी रुचियों से उन्हें प्रभावित करने में समय लगेगा। उसकी उम्र सीखने की होती है। यदि उसे प्यार से समझाया जाए और

जल्दबाज़ी न की जाए तो सुधार की सम्भावना प्रबल रहती है, परन्तु छोटी-छोटी बातों पर जिस प्रकार उसे टोका जाता है या अंकुश लगाया जाता है, उससे सुधार की सम्भावना कम-से-कम होने लगती है। यहाँ इस बात को भी भुला दिया जाता है कि लड़की में कुछ ख़ूबियाँ भी हो सकती हैं, उनसे फ़ायदा भी उठाया जा सकता है।

मुहब्बत-से-मुहब्बत और नफ़रत-से-नफ़रत पैदा होती है। यदि आनेवाली लड़की को मुहब्बत मिले तो उसके दिल में भी मुहब्बत उभरेगी। इनसान मुहब्बत का भूखा होता है। लड़की जब देखेगी कि ससुरालवाले उसे चाह रहे हैं और उससे ख़ुश हैं तो वह भी उनसे मुहब्बत करेगी। इसके विपरीत जब वह देखती है कि वह घर की मालिक बनकर नहीं आई है, जीवन-साथी भी सम्भवतः नहीं है, मात्र एक नौकरानी समझी जाती है तो उसके अन्दर नकारात्मक प्रतिक्रिया पैदा होने लगती है। या तो वह बुज़ुर्गों की अधीनता न चाहते हुए भी स्वीकार कर लेती है और उसकी जो हैसियत निर्धारित कर दी जाए उसे चाहे-अनचाहे मानकर ज़िन्दगी के दिन काटने लगती है या उसके अन्दर बग़ावत के जज़्बात उभरते हैं और घर धीरे-धीरे युद्ध के मैदान में बदल जाता है।

आज भी मुस्लिम समाज में ऐसे परिवार बहुत अधिक संख्या में मौजूद हैं जहाँ इन बातों का ख़याल रखा जाता है। इससे सास-बहू के झगड़े बहुत कम होते हैं और ख़ुशगवार ज़िन्दगी गुज़रती है। लेकिन इसके बावुजूद प्रायः दोनों ओर ज़िन्दगी-भर एक परदा पड़ा रहता है। बहू बेटी नहीं बन पाती और सास माँ नहीं होती। इस्लाम ने इसका हल यह बताया है कि कोई लड़की ससुराल में रहना न चाहे तो उसका पति उसे अलग रखे। यह इतना उचित समाधान है कि यदि इसपर अमल हो तो मुस्लिम-परिवार झगड़ों और विवादों से बच सकता है और उनका पारिवारिक जीवन दूसरों के लिए भी आदर्श बन सकता है।

दहेज का अभिशाप

दहेज! कितना भयानक है यह शब्द? कुछ शब्द कभी सुनने की दृष्टि से भयानक होते हैं, कभी अर्थ की दृष्टि से। सम्भवतः यहाँ दूसरी स्थिति है। दहेज को उस परिकल्पना ने भयानक बना दिया है जो उसके साथ सम्बद्ध है। शब्दों पर समय के प्रभाव भी पड़ते हैं। हो सकता है अतीत में 'दहेज' नए रिश्ते के साथ हमदर्दी एवं सहयोग का एक ज़रीआ मात्र हो और उसकी चर्चा से भाईचारगी और मुहब्बत के जज़्बात उभरते हों, या कम से कम वह इतना भयानक न रहा हो जितना आज है। अब इसने बहरहाल एक डरावनी सूरत अपना ली है।

आज माँ-बाप की ज़िम्मेदारी सिर्फ़ यही नहीं है कि लड़की की परवरिश करें, उसे तालीम दें, उसे धार्मिक एवं नैतिक रूप से प्रशिक्षित करें, उसे घर-गृहस्थी के गुणों से सुसज्जित करें, उसके लिए रिश्ता तलाश करें और नियम के अनुसार किसी शरीफ़ आदमी से उसका निकाह करके अपने कर्त्तव्यों से बरी हो जाएँ, बल्कि यह भी उनकी ज़िम्मेदारी मान ली गई है, और बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी मानी जाती है, कि जिस लड़के को उन्होंने अपनी लड़की के लिए चुना है उसकी वे माँगें भी पूरी करें, जिन्हें शायद वह ख़ुद भी पूरी नहीं कर सकता। इन माँगों की सूची इतनी लम्बी और इतनी वेराइटीवाली होती है कि इसमें नक़द के अतिरिक्त दूल्हा की प्रतिष्ठा के अनुकूल जोड़ा, पोशाक, घड़ी, साइकिल, स्कूटर, कार, रेडियो, टेलीवीज़न आदि दुनिया-भर की चीज़ें आ जाती हैं। यह सूची परिस्थितियों के अनुरूप संक्षिप्त भी हो सकती है और लम्बी भी। बहरहाल यही सुनहरा अवसर होता है जब कि दूल्हे मियाँ और उनके सगे-सम्बन्धी अपनी महत्वकांक्षाएँ और तमन्नाएँ पूरी करने के लिए भरपूर कोशिश करते हैं।

इसके साथ यह भी ज़रूरी है कि लड़की को मुतालबे और माँग के

अनुसार गहने-ज़ेवर से सजा दिया जाए, उसे इतने साज़ो-सामान के साथ विदा किया जाए कि आदमी की क़िस्मत जाग उठे और घर सचमुच आर्ट गैलरी-सा प्रतीत हो। लड़की को दिए जानेवाले इस माल की क़ीमत तो निर्धारित नहीं है, हाँ इतनी बात तो तय है कि उसे लड़कीवाले की हैसियत से हर हाल में ज़्यादा होना चाहिए।

दौलत की हवस इतनी बढ़ गई है कि लड़की की शक्ल-सूरत, तालीम-तर्बियत और दीन-अख़लाक़ सब कुछ इसके मुक़ाबले में पीछे रह गए हैं। सबसे पहली चीज़ जो देखी जाती है वह यह है कि लड़की कितनी दौलत अपने साथ ला सकती है। हुस्न का ही नहीं, दीन और अख़लाक़ (धर्म और नैतिकता) का भी इतना अपमान शायद ही दुनिया ने कभी देखा हो। दौलत ने सभी उच्च-मूल्यों को खुली पराजय दे दी।

दहेज समाज में आदमी की हैसियत ही का नहीं, इज़्ज़त और शराफ़त का भी मापदण्ड बन गया है। जो व्यक्ति दहेज के नाम पर जितनी ज़्यादा रक़म ख़र्च कर सकता है, उसकी लड़की के लिए उतना ही 'अच्छा' और 'योग्य' वर मिल सकता है। जो व्यक्ति दहेज न दे पाए, वह कम हैसियतवाला और हीन एवं तुच्छ है। वह अपनी लड़की के लिए किसी उचित रिश्ते की अपेक्षा नहीं कर सकता। यदि किसी ने अपनी एक लड़की के साथ यह ज़्यादती की कि बिना दहेज के उसे विदा कर दिया तो उसकी अन्य लड़कियों का अल्लाह ही हाफ़िज़! उसे आसानी से रिश्ते मिल नहीं सकते। ऐसे कंगाल या कंजूस के घर आना कौन पसन्द करेगा!

इसका नतीजा यह है कि बहुत-सी लड़कियाँ लम्बी उम्र तक मात्र इसलिए बिन-ब्याही बैठी रहती हैं कि दुर्भाग्यवश वे ऐसे माँ-बाप के घर पैदा हो गईं जो उनके लिए दहेज जुटाने में सक्षम नहीं हैं। इनमें कितनी ही मज़लूम और बेज़बान ज़िन्दगी-भर कँवारी रह जाती हैं। कुछ बेचारी तो परिस्थितियों को देखते हुए स्वयं ही शादी से इनकार कर देती हैं ताकि उनके माता-पिता उनकी शादी की चिन्ता से मुक्त हो जाएँ और

वे अपनी उमंगों और तमन्नाओं को दबाकर यूँ ही ज़िन्दगी गुज़ार दें। इसके अतिरिक्त उपमहाद्वीप में संयुक्त परिवार का प्रचलन है। जब किसी परिवार में लड़कों की शादियाँ होती चली जाती हैं और लड़कियाँ कुँवारी रह जाती हैं तो परिवार के अन्दर बड़ी मनोवैज्ञानिक पेचीदगियाँ पैदा हो जाती हैं और पारिवारिक ज़िन्दगी का सुकून बिखर जाता है। हक़ीक़त यह है कि इन अविवाहित लड़कियों का वुजूद इस ज़ालिम समाज के ख़िलाफ़ फ़रियाद है जो हर क्षण की जा रही है। लेकिन कौन है जो इन बेबसों की फ़रियाद सुने?

सबसे बड़ी समस्या तो उस लड़की की है जो दहेज के बिना अपने पति के घर चली जाए। उसमें हज़ार ख़ूबियाँ सही, उसकी यह ग़लती माफ़ नहीं हो सकती कि वह ख़ाली हाथ अपने मायके से आई है। उसे फिटकारनेवाला केवल उसका पति ही नहीं होता, पति का पूरा परिवार उसका हिसाब-किताब लेनेवाला बन जाता है। उसे अपने इस जुर्म का एक-एक व्यक्ति को हिसाब देना पड़ता है। इसकी सामान्य सज़ा ताना, टिप्पणी, व्यंग्य, मार-पीट तो है ही, उसे घर से निकाला भी जा सकता है और पति से अलग भी किया जा सकता है। यही नहीं इस 'जुर्म' के लिए उसे अपनी जान से भी हाथ धोना पड़ सकता है। दहेज के लिए हत्या की घटनाएँ इतनी अधिक हो रही हैं कि इन ख़बरों में कोई नयापन बाक़ी नहीं बचा है। अब ये घटनाएँ नियमित घटनाएँ बनकर रह गई हैं। यह सज़ा पति महोदय के हाथों दी भी जाती है, और यदि उसे कुछ हिचकिचाहट अथवा संकोच हो तो परिवार के अन्य सदस्य भी इस सेवा के लिए तैयार रहते हैं।

दहेज की समस्याओं एवं कष्टों से छुटकारा पाने के लिए लड़कियाँ स्वयं भी आत्महत्या की प्रवृत्ति की ओर अग्रसर हो रही हैं। इसके लिए कभी वे मिट्टी के तेल और पेट्रोल का सहारा लेती हैं, कभी किसी ऊँची इमारत से छलाँग लगाती हैं, तो कभी गले में फन्दा लगाकर छत से लटक जाती हैं और कभी ज़हर खाकर हमेशा की नींद सो जाती हैं।

ख़ुदा बेहतर जानता है कि कितनी मासूम जानें इस दहेज-रूपी दानव की भेंट चढ़ चुकी हैं और अभी कितनी की यही नियति होनेवाली है। इस दरिन्दगी से जंगल के पशु भी शायद शरमा रहे होंगे।

दहेज की इस भयानक तस्वीर को आज हर व्यक्ति अपनी खुली आँखों से देख रहा है, इसके बावुजूद समाज के अधिकतर लोगों ने इसे एक अनिवार्य सामाजिक बुराई के रूप में स्वीकार कर लिया है। उनके अनुसार वर्तमान हालात में लड़कों के लिए दहेज लेना और लड़कियों को दहेज देना, दोनों इतना ज़रूरी हो गया है कि इससे दामन बचाने की कोई सूरत नहीं है। इसकी दलील यह दी जाती है कि लड़कियों को बहरहाल दहेज देना ही पड़ता है। इसमें लड़के की माँगों की पूर्ति भी शामिल है, इसके बिना उनकी शादी नहीं हो सकती। माँ-बाप इसकी हिम्मत नहीं कर सकते कि उनकी लड़की बिन ब्याही घर बैठी रहे। जो व्यक्ति दहेज देता है वह दहेज लेने पर मजबूर भी है। उससे यह अपेक्षा करना ग़लत होगा कि वह तो अपनी लड़कियों को दहेज के साथ विदा करे और दूसरों की लड़कियाँ उसके घर ख़ाली हाथ आएँ। हो सकता है इस नुक़सान को कुछ लोग सहन कर लें, परन्तु हर व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता।

इस तर्क को सामने रखकर सोचिए, वह इनसान कितना अभागा होगा जिसकी केवल लड़कियाँ हों। वह तो नुक़सान पर नुक़सान उठाता रहेगा। और इसके विपरीत कितना भाग्यशाली है वह व्यक्ति जिसके केवल लड़के हों और जो दहेज की दौलत से मालामाल होता चला जाए।

फिर इस कुतर्क को मान लेने के बाद जो बात सामने आती है वह यह है कि किसी बुराई को हम मात्र इसलिए स्वीकार कर लें कि सारी दुनिया ऐसा कर रही है और इससे फ़ायदा उठा रही है, यह तो एक ग़लत धारणा है। इस प्रकार तो आदमी रिश्वत, घूस, बेईमानी, धोखा जैसी बुराइयों को भी वैध घोषित कर सकता है, कारण यह है कि ये नुस्ख़े आज की दुनिया में आम हैं और बड़े लाभदायक हैं। जो इन्हें

इस्तेमाल नहीं करता वह निश्चित रूप से घाटे में रहता है।

इस प्रकार की ग़लत व्याख्याएँ दुनिया की हर बुराई को मज़बूती प्रदान करती हैं। इनसे इनसान की अन्तरात्मा में बुराइयों के ख़िलाफ़ घृणा की जो भावना रहती है, वह भी धीरे-धीरे समाप्त हो जाती है, और फिर वह पूरी ढिठाई के साथ बुराई के कामों में लिप्त होता चला जाता है।

हक़ीक़त यह है कि दहेज के नाम पर जो ज़ुल्म-ज़्यादती हो रही है उसे दुनिया का कोई धर्म, कोई नैतिक दर्शन और कोई क़ानून जाइज़ क़रार नहीं दे सकता। आजकल हमारे देश के अख़बारों का एक ख़ास विषय यही दहेज है। इसके ख़िलाफ़ विभिन्न क्षेत्रों से आवाज़ें उठती रहती हैं। सरकार भी क़ानून के द्वारा इसपर पाबन्दी लगाना चाहती है, परन्तु किसी भी बुराई को दूर करने के लिए सरकार और समाज का दबाव काफ़ी नहीं है, बल्कि इसके लिए सोच और विचार में परिवर्तन लाने तथा अल्लाह और आख़िरत के डर की ज़रूरत है। इस्लाम यही फ़र्ज़ अंजाम देता है। वह सबसे पहले समाज के ग़लत बन्धनों को तोड़ता और ज़िन्दगी का साफ़-सुथरा और आसान तरीक़ा सिखाता है। इसके लिए उसने किसी भी मामले को पेचीदा नहीं बनाया है कि आदमी के लिए जीना दूभर हो जाए। अतः उसने दाम्पत्य जीवन की तमाम समस्याओं को भी बहुत आसानी से हल किया है। उसके नज़दीक निकाह सादगी एवं सहजता से होना चाहिए। उसे मुश्किल एवं असहज बनाना बहुत बड़ा ज़ुल्म है। इस सम्बन्ध में इस्लाम की कुछ सैद्धान्तिक शिक्षाओं का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है–

(1) इस्लाम इस बात का घोर विरोध करता है कि किसी भी मामले में ज़ुल्म-ज़्यादती का व्यवहार किया जाए। उसके अनुसार किसी की कमज़ोरी और मजबूरी से फ़ायदा उठाना और उसका शोषण करना सर्वथा अवैध है। दहेज के नाम पर लड़कीवालों का शोषण भी इसी के अन्तर्गत आता है। इस्लाम इसका किसी हाल में पक्षधर नहीं है।

(2) शादी लड़कीवालों से दौलत समेटने का ज़रीआ नहीं है, बल्कि यह कुछ महान उद्देश्यों के लिए होती है। वही शादी सफल है जिनसे उन उद्देश्यों की पूर्ति होती है। दौलत की हवस में उन उद्देश्यों को पीछे धकेल देना ग़लत एवं अनुचित है।

(3) मर्द को अल्लाह ने 'क़व्वाम' बनाया है, उसे नेतृत्व प्रदान किया है। वह इसी हैसियत से निकाह के बन्धन में बँधता है। वह इस संकल्प एवं प्रतिज्ञा के साथ लड़की का हाथ पकड़ता है कि वह उसके भोजन, वस्त्र और आवास आदि का ज़िम्मेदार है। जिसे अल्लाह ने यह उच्च स्थान दिया है उसके लिए यह बात बड़ी अपमानजनक है कि वह शादी से कुछ दिन या कुछ समय पहले लड़की या उसके अभिभावकों के सामने दहेज के नाम पर हाथ फैलाए और जब अपनी मुराद पूरी न हो तो फिर किसी दूसरी लड़की के दरवाज़े पर पहुँच जाए।

(4) दहेज न मिलने या कम मिलने पर औरत पर प्रायः जो ज़ुल्म-ज़्यादती होती है उसका कोई धार्मिक या नैतिक औचित्य नहीं है। यह इस्लाम की शिक्षाओं के सर्वथा प्रतिकूल है। दहेज अथवा माल-दौलत के लिए औरत को तंग करने की जगह इस्लाम ने प्रेम एवं सहानुभूति का हुक्म दिया है। इस्लाम में 'महर' का प्रावधान इसी बात का संकेत है। महर की बहुत-सी विशेषताएँ हैं। एक विशेषता यह है कि औरत अपने घर-परिवार से विदा होकर पति के यहाँ आती है, इसलिए पति महर के रूप में पत्नी को प्रेम एवं मुहब्बत का तोहफ़ा पेश करता है और इस बात का संकेत देता है कि वह उसका दुश्मन नहीं, बल्कि हमदर्द और सुख-दुख का सच्चा साथी है। दहेज के लिए औरत को परेशान करना सद्व्यवहार एवं सदाचरण की उस शिक्षा के भी ख़िलाफ़ है जो इस्लाम ने सभी इनसानों को दी है।

जिस व्यक्ति के समक्ष ये पवित्र शिक्षाएँ हों उसकी वह मानसिकता कभी नहीं हो सकती जो आज दहेज के लोभी नौजवानों में देखी जाती है। वह दहेज के नाम पर औरत और उसके परिवारवालों के शोषण की

जगह उनसे हमदर्दी और मुहब्बत का रवैया अपनाएगा और पाशविक प्रवृत्ति की जगह अपने सद्व्यवहार से शराफ़त और इनसानियत (मानवीय गुणों) का सुबूत देगा।

इस्लाम की इन शिक्षाओं का ही नतीजा है कि इस समस्या ने अन्य समाजों की तरह मुस्लिम समाज में भयानक रूप नहीं लिया है। लेकिन अब धीरे-धीरे मुस्लिम-समाज के भी कुछ वर्गों में यह मर्ज़ फैलता जा रहा है और इसके कारण ऐसी पेचीदगियाँ पैदा हो रही हैं जिनसे मुस्लिम-समाज सुरक्षित था। इसका एक इलाज तो यह है कि समाज में इस्लामी शिक्षाओं को आम किया जाए और उसे अल्लाह और रसूल (सल्ल०) की ओर पलटने की दावत दी जाए। दूसरा इलाज यह है कि जो लोग दहेज के नुक़सान को महसूस कर रहे हैं वे हिम्मत करके आगे बढ़ें और समाज में इसके लेन-देन को समाप्त करने में अपना योगदान दें। इस मामले में लड़कीवाले तो मज़लूम (पीड़ित) हैं, उन्हें नसीहत और उपदेश की नहीं हमदर्दी की ज़रूरत है। हाँ, लड़केवालों की ओर से दहेज के ख़िलाफ़ पहल होनी चाहिए और इसके लिए जो भी घाटा-नुक़सान हो उसे अल्लाह की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए उन्हें बर्दाश्त करना चाहिए। जब तक आदमी उन हितों और फ़ायदों का त्याग न करे जो किसी ग़लत माध्यम से उसे प्राप्त हो रहे हैं, उसका सुधार नहीं हो सकता।

इस चर्चा को विराम देने से पहले कुछ विशेष बिन्दुओं को स्पष्ट कर देना उचित होगा, ताकि इस सम्बन्ध में इस्लामी दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से सामने आ जाए—

(1) शादी के बाद लड़के और लड़की को अपना नया घर बसाना होता है। उसमें लड़केवाले भी उनकी मदद कर सकते हैं और लड़कीवाले भी। अगर नया जोड़ा इस मामले में मदद का हक़दार है तो ऐसे में उनकी मदद करना अच्छा समझा जाएगा। यह मदद पैसे के रूप में भी हो सकती है और साज़ो-सामान के रूप में भी।

यह भी सम्भव है कि कुछ चीज़ें उधार के तौर पर दे दी जाएँ। लेकिन यह कोई अनिवार्य नहीं है कि सहयोग न करनेवाला पक्ष मुजरिम समझा जाए। और यह कोई निकाह की शर्त भी नहीं है कि इसके बिना निकाह ही नहीं होगा।

(2) शादी के अवसर पर वर और वधु को रिश्तेदारों और दोस्तों की ओर से तोहफ़े-उपहार दिए जा सकते हैं, लेकिन तोहफ़े का आदान-प्रदान 'अनुमति' तक ही सीमित हो, 'अनिवार्यता' का रूप न धारण कर ले। अर्थात् तोहफ़ा न मिलने पर बुरा मानना या शिकवा-शिकायत करना सही नहीं है। तोहफ़ा अपनी ख़ुशी से आदमी देता है, वरना तोहफ़ा 'तावान' और 'जुर्माना' बन जाएगा।

(3) शादी के अवसर पर लड़की को जो ज़ेवर या सामान दिया जाता है उसके सम्बन्ध में यह नहीं समझना चाहिए कि वह पति या ससुरालवालों की मिल्कियत है। उसकी अस्ल मालिक लड़की होती है। उसकी अनुमति के बिना इसमें से ख़र्च नहीं किया जा सकता।

(4) अन्तिम बात यह कि इस्लाम ने निकाह अथवा शादी की प्रक्रिया को आसान बनाया है। अतः समाज के वे सारे बन्धन जिनसे निकाह या शादी में जटिलता उत्पन्न हो, सब निन्दनीय हैं, उनसे मुसलमानों को दूर रहना चाहिए।

यह है वह मध्य-मार्ग जो इस्लाम ने प्रस्तुत किया है। इसमें मुहब्बत और हमदर्दी है, सद्व्यवहार है, ज़ुल्म-ज़्यादती की मनाही है और साथ-साथ इनसान के जज़्बात, स्वभाव और ज़रूरतों की भरपूर गुंजाइश भी है। इसपर अमल हो तो दहेज के झगड़े ख़त्म ही नहीं होंगे, बल्कि शन्तिपूर्ण पारिवारिक जीवन भी मिलेगा।

वर्तमान में मुस्लिम औरतों की समस्याएँ

प्रसिद्ध इस्लामी मासिक पत्रिका 'तर्जमानुल-क़ुरआन' लाहौर की ओर से एक प्रश्नावली प्राप्त हुई थी, जो आज के दौर में एक दीनदार महिला की समस्याओं, औरत के साथ मुस्लिम समाज के रवैये, इस्लामी आन्दोलनों की सुधार की कोशिशें, इस्लामी राज्य में औरत की हैसियत जैसे प्रश्नों पर आधारित थी। नीचे दिया गया लेख उसी के जवाब में लिखा गया।

पश्चिम ने जो समस्याएँ पैदा की हैं, उनमें बुनियादी समस्या उसके जीवन-दर्शन की है। इसका हमला इतना ज़बरदस्त और इसका दबाव इतना अधिक है कि मुसलमान औरत को दृढ़ता और मज़बूती के साथ उसका मुक़ाबला करना पड़ रहा है। वह क़दम-क़दम पर महसूस करती है कि यह पूरा जीवन-दर्शन उसकी राह में अवरोधक ही नहीं, बल्कि उसे एक दूसरी दिशा में धकेल देना चाहता है। इसमें ख़ुदा पर ईमान और यक़ीन, उसकी हिदायत और मार्गदर्शन तथा आख़िरत (परलोक) की जवाबदेही की कोई परिकल्पना नहीं पाई जाती। वह दीन की उन बुनियादी हक़ीक़तों से इनकार करते हुए आगे बढ़ता है और इनसे मुक्त होकर जीवन की आधारशिला रखना चाहता है। यह एक ज़बरदस्त मानसिक कशमकश है जिसमें मुसलमान औरत गिरफ्तार है। (यह कशमकश मुसलमान मर्द के लिए भी है, परन्तु यहाँ मुसलमान औरतों की समस्याएँ ही चर्चा का केन्द्र-बिन्दु है।)

इस्लामी शिक्षाओं की रौशनी में मुसलमान औरत घर और परिवार को अपना वास्तविक कार्य-क्षेत्र और अपने उत्तरदायित्व का केन्द्र समझती है। पश्चिमी सभ्यता उसे इस केन्द्र से हटाने की भरपूर कोशिश में लगी हुई है। वह घर में घुसकर उसके सुकून पर हमलावर हो रही है

और उसे अनिश्चय एवं दुविधा में डुबोना चाहती है। पश्चिम जिन पहलुओं से इस्लाम पर अपना हमला जारी रखे हुए है उनमें उसकी परिवार-व्यवस्था को ख़ास अहमियत प्राप्त है। वह विभिन्न बहानों से यह बात दिलो-दिमाग़ में बैठाना चाहता है कि इस्लामी परिवार औरत के लिए एक क़ैदख़ाने से कम नहीं है, उसके अधिकार असुरक्षित और उसकी ज़िम्मेदारियाँ अनगिनत हैं। परदे के नाम पर उसकी आज़ादी पर पाबन्दी लगा दी जाती है। वह खुलकर किसी मामले में किसी के सामने नहीं आ सकती। वह जन्म से लेकर शादी तक माँ-बाप के अधीन और शादी के बाद पति की दासी बनकर रह जाती है। मर्द अपनी कामतृप्ति के लिए चार पत्नियाँ रख सकता है और तलाक़ के दो शब्द बोलकर उनमें से जिसे चाहे घर से निकाल सकता है। उसकी कोई आर्थिक हैसियत नहीं है और वह मर्द के हाथों मजबूर और क़ैद है।

इस्लाम की शिक्षाओं की यह बहुत ही ग़लत व्याख्या है। दुनिया की किसी भी सही और उचित बात को अनुचित एवं भयानक बनाकर पेश किया जा सकता है। यह उसी प्रकार की कोशिश है। इस कोशिश को नाकाम बनाना और इस्लाम की सही तस्वीर पेश करना हम सबकी ज़िम्मेदारी है।

परिवार-व्यवस्था पर इन वैचारिक हमलों का मक़सद यह है कि मुसलमान औरत इस व्यवस्था से ही बिदक जाए, उसे एक ज़ालिमाना व्यवस्था समझे और उसके ख़िलाफ़ बग़ावत पर उतर आए। वह आगे बढ़कर माँ-बाप से, पति से और पूरे परिवार से बग़ावत कर दे। यह एक हक़ीक़त है कि औरत की बग़ावत के बाद परिवार अपनी जगह पर क़ायम नहीं रह सकता और फिर उस समाज को पराजय एवं पतन से कोई ताक़त बचा नहीं सकती। परिवार समाज की बुनियादी संस्था है। इस्लाम आज भी इस मामले में बड़ी हद तक ज़िन्दा और सुरक्षित है। यदि यह संस्था बिखर जाए तो सामाजिक जीवन की अन्य संस्थाओं से वह आसानी से ख़त्म हो जाएगा। पश्चिमी सभ्यता यही चाहती है।

पश्चिम में औरत और मर्द की समानता की एक ख़ास परिकल्पना पाई जाती है। यह एक अस्वाभाविक परिकल्पना है। इसी कारण ख़ुद पश्चिम में इसे पूरी तरह अपनाया नहीं जा सका है। औरत और मर्द की क्षमताओं का अन्तर इसमें सबसे बड़ी रुकावट है। परन्तु इस परिकल्पना को इस प्रकार पेश किया जाता है कि यह हर आलोचना से परे है। अतः उसके ख़िलाफ़ ज़बान खोलने की हिम्मत भी मुश्किल ही से की जाती है।

समानता की इस अवधारणा के तहत मुसलमान औरत को यह समझाने की कोशिश हो रही है कि परिवार ही नहीं, ज़िन्दगी के हर क्षेत्र में इस्लाम उसे मर्द के समान स्थान देने के लिए तैयार नहीं है। उसे वे अधिकार प्राप्त नहीं हैं जो एक इनसान के रूप में किसी सभ्य समाज में मिलने चाहिएँ। उसे मर्द से नीचा समझा जाता है, उसकी गवाही आधी गवाही है, उसकी दियत[1] (Blood Money) आधी दीयत है, उत्तराधिकार में उसका हिस्सा आधा है। नौकरी, व्यापार और उद्योग-धन्धों में उसका हस्तक्षेप नहीं है। शासनाध्यक्ष वह कभी बन नहीं सकती। मुसलमान औरत की मज़लूमियत की यह दास्तान वर्तमान समय की साधन और मीडिया से ज़ोर-शोर से सुनाई जा रही है, और इससे मन-मस्तिष्क का प्रभावित होना आश्चर्यजनक नहीं है। जबकि इस्लाम का पक्ष एवं मत उतनी ही शक्ति से सामने नहीं आ रहा है और वातावरण भी उसके विपरीत बना दिया गया है।

मुसलमान औरत सख़्त कशमकश का शिकार है कि वह आख़िर करे तो क्या करे? एक ओर उसके विचार समय के विचारों से टकराते हैं। उसके सोचने का अन्दाज़ वर्तमान समय के विचारों से विपरीत और उसकी रुचि वर्तमान के खेल-तमाशे से भिन्न है। दूसरी ओर उसका नमाज़-रोज़े का पाबन्द होना और नैतिक मूल्यों पर उसका आग्रह,

---

1. वह धन जो क़त्ल करनेवाले से क़त्ल हुए व्यक्ति के सम्बन्धियों को क्षतिपूर्ति के रूप में दिलाया जाए।

वर्तमान अश्लील संस्कृति एवं कला से उसकी दूरी, शर्म-लज्जा को उसका श्रृंगार समझना, उसका लिबास और उसका हिजाब (परदा), ये सभी चीज़ें आज के वातावरण में उसे बिल्कुल अजनबी बनाकर रख देती हैं। वह ऐसा महसूस करती है जैसे उसका दम घुट रहा हो और दीन और अख़लाक़ की साफ़-सुथरी फ़िज़ा में वह साँस लेना चाहे तो भी न ले पा रही हो। यदि संयोग से– और अब यह मात्र संयोग ही नहीं रहा बल्कि एक सामान्य चीज़ बन गई है– माँ-बाप, पति या परिवार के अन्य सदस्य ग़ैर-इस्लामी सोच और मानसिकता के हों तो मुसलमान औरत की कशमकश अपने घर ही से शुरू हो जाती है। यह कशमकश बड़ी सख़्त होती है। अपने निकट वातावरण के विषम होने के कारण उसे अनगिनत कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

मौजूदा हालात में एक मुसलमान औरत जिन समस्याओं में घिरी है उनमें एक अहम समस्या बच्चों की शिक्षा-दीक्षा है। आज ज्ञान मात्र कुछ भौतिक या वैचारिक मालूमात में इज़ाफ़े (वृद्धि) का नाम है। हमारी शैक्षणिक संस्थाएँ विद्यार्थी को साहित्यिक, सामाजिक और साइंसी मालूमात तो उपलब्ध कराते हैं, लेकिन उन मालूमात को सही दिशा नहीं दे पाते। फलस्वरूप विद्यार्थी का मानसिक एवं वैचारिक प्रशिक्षण नहीं हो पाता और मालूमात का यह दंभ दीन (मज़हब) से भटकाव का कारण बन जाता है। शैक्षणिक संस्थाओं से बाहर की दुनिया नैतिक पतन में वृद्धि करती है। कभी-कभी तो घर का माहौल भी सुधार एवं प्रशिक्षण में मददगार नहीं होता।

इन हालात में इस्लामी सोच और विचार रखनेवाली महिला जब देखती है कि नई नस्ल, जिसमें उसकी औलाद भी शामिल है, ग़ैर-इस्लामी विचारधारा के बहाव में बही चली जा रही है और वह उसे रोक नहीं पा रही है तो उसे दुनिया अंधेरी नज़र आने लगती है। उसकी परेशानियों एवं कष्टों की कल्पना आसानी से की जा सकती है।

ये तो कुछ समस्याएँ और कठिनाइयाँ हैं। विषम परिस्थितियों में

ऐसी परेशानियों का पेश आना आश्चर्यजनक नहीं है। इनका पेश न आना आश्चर्य का कारण हो सकता है। इनसे निराश होने की बिल्कुल ज़रूरत नहीं है। मुसलमान औरत अपने दीन और ईमान, ख़ुदा से ताल्लुक़ और उसकी मदद तथा तत्त्वदर्शिता एवं अच्छे उपायों से इनपर क़ाबू पा सकती है। यदि वह इस फ़ैसले और दृढ़ निश्चय के साथ खड़ी हो कि सच्चाई पर क़ायम रहेगी और ग़ैर-इस्लामी माहौल को बदलने की राह में जो कठिनाइयाँ पेश आएँगी उन्हें सहर्ष बर्दाश्त करेगी तो अल्लाह की मदद उसे प्राप्त होगी और रुकावटें दूर होंगी। ज़ुल्म की अंधेरी रात ख़त्म होगी और नया सवेरा आएगा।

मुस्लिम समाज में औरत की हैसियत

मौजूदा मुस्लिम समाज में (विशेषकर इस उपमहाद्वीप के संदर्भ में) औरत की स्थिति बड़ी दयनीय रही है। वह उन अधिकारों से बड़ी हद तक वंचित थी और है जो इस्लाम ने उसे प्रदान किए हैं। अज्ञान काल (मुहम्मद सल्ल० की नुबूवत से पहले के काल) की तरह आज भी लड़की को एक बोझ समझा जाता है। उसके जन्म पर ख़ुशी नहीं महसूस की जाती, बल्कि माँ-बाप और घर के लोगों में एक प्रकार के शोक की लहर दौड़ जाती है। जन्म के बाद उसके लालन-पालन और शिक्षा-दीक्षा के मामले में वैसा ध्यान नहीं दिया जाता जैसा लड़कों के मामले में देखने को मिलता है। उसकी शिक्षा न पारम्परिक रूप से होती है और न आधुनिक रूप से। उसकी मालूमात की दुनिया परिवार के तौर-तरीक़ों और रस्म-रिवाजों तक सीमित रहती है। उसे न क़ुरआन-हदीस का ज्ञान होता है और न आधुनिक विषयों का। जीवन के किसी क्षेत्र में उसे वह सूझ-बूझ प्राप्त नहीं होती कि दीनी (धार्मिक) और दुनियावी दृष्टिकोण से सही-ग़लत का फ़ैसला कर सके। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय मामलात से वह बेख़बर रहती है। दुनिया में क्या बदलाव हो रहे हैं, क्यों हो रहे हैं और उनके पीछे के कारक क्या हैं इनका उसे कोई इल्म नहीं होता। इन सब चीज़ों का नतीजा यह है कि वह दुनिया के भले-बुरे से कटकर रह

गई है। निस्सन्देह इस स्थिति में कहीं-कहीं बदलाव ज़रूर आए हैं और हमारी औरतों ने इल्म के मैदान में स्पष्ट तरक़्क़ी की है, परन्तु एक लम्बे अन्तराल से वह शिक्षा के क्षेत्र में इतनी पिछड़ी हुई है कि उसकी क्षतिपूर्ति के लिए शायद एक लम्बे समय की ज़रूरत है।

अब शिक्षा से कटकर कुछ दूसरे मामलात पर ग़ौर कीजिए। शादी के समय महर की मोटी रक़म तय होती है, परन्तु उससे अदा (चुकता) करने की कोशिश नहीं की जाती। शादी के बाद लड़की के कर्त्तव्यों का बखान तो होता रहता है, परन्तु उसके प्रति अन्य लोगों के जो कर्त्तव्य हैं उसकी चिन्ता कोई नहीं करता। लड़की के कर्त्तव्यों में वे चीज़ें भी ख़ुद ही शामिल कर दी गई हैं जो शरीअत में नहीं हैं। शरीअत का दृष्टिकोण यह है कि औरत पर घरेलू मामलात और परिवार-प्रबन्धन का बोझ (जिसमें खाना पकाना, साफ़-सफ़ाई जैसे काम भी शामिल हैं) उसकी ताक़त या क्षमता से अधिक न डाला जाए। यदि यह बोझ अधिक हो तो मर्द उसमें सहयोग करे। परन्तु यहाँ स्थिति यह है कि इस बोझ के साथ पति की सेवा भी उसे करनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त पति के भाइयों, बहनों और दूर-निकट के रिश्तेदारों की सेवा भी उसपर अनिवार्य समझी जाती है। थोड़ी-सी कमी भी बर्दाश्त नहीं की जाती और उसपर तरह-तरह की ज़्यादतियाँ होने लगती हैं। उसकी उम्र के सुन्दर क्षण सास-बहू के झगड़ों और ससुराल के अनुचित व्यवहार के भेंट चढ़ जाते हैं। माहौल की कठोरता के कारण उसकी शक्ति और क्षमता नष्ट होती चली जाती है और वह परिवार एवं समाज के लिए कोई उपयोगी-सेवा नहीं कर पाती। चल-अचल सम्पत्ति में उसे विरासत से वंचित रखा जाता है। विधवा अथवा तलाक़शुदा होने पर उसका पुनः निकाह पसन्द नहीं किया जाता। कभी तो उसकी पूरी उम्र पति के बिना कट जाती है। इन हालात में मुसलमान औरत के अन्दर एक प्रकार की मायूसी का पाया जाना स्वाभाविक है। वह समझती है कि उसे नज़रअन्दाज़ किया जा रहा है, उसकी कमज़ोरी और मजबूरी का शोषण हो रहा है, उसके दीनी

(धार्मिक) एवं सामाजिक कर्त्तव्यों की चर्चा तो हर ओर हो रही है और उनके पूरा किए जाने की माँग भी पुरज़ोर है, परन्तु उसके अधिकारों को पूरा करने की चिन्ता नहीं की जाती। यह एहसास व्यवहारतः उसे धीरे-धीरे इस्लाम से दूर कर रहा है। उसके अन्दर इस्लाम से सैद्धान्तिक अथवा वैचारिक बग़ावत तो प्रायः नहीं है, परन्तु इस्लाम से जिस प्रकार का सम्बन्ध और जुड़ाव होना चाहिए वह कमज़ोर होता जा रहा है। उसे इस्लामी समाज में वह कशिश (आकर्षण) नज़र नहीं आती जो उससे जुड़े रहने और सम्बन्ध की मज़बूती के लिए ज़रूरी है।

इस्लामी आन्दोलनों की सुधारवादी कोशिशें

इस्लामी आन्दोलनों ने इस स्थिति को बदलने का जो प्रयास विभिन्न तरीक़ों से किया है उसे स्वीकार न करना बड़ा अन्याय होगा। इसके नतीजे में, जहाँ तक इन आन्दोलनों का प्रभाव है, मुसलमान औरतों को इस्लामी अधिकार प्राप्त हो रहे हैं, साथ ही उनमें दीन (इस्लाम) की सही समझ भी विकसित हो रही है। उन औरतों में कुछ तो इस्लामी जज़्बात से भरी हुई हैं और हालात का मुक़ाबला कर रही हैं, परन्तु यह भी एक सच्चाई है कि उसके प्रभाव बहुत सीमित हैं। समाज में उससे कोई बड़ी तब्दीली महसूस नहीं हुई है। आज भी मुसलमान औरत इस्लाम की स्पष्ट शिक्षाओं के प्रतिकूल विपरीत माहौल में ज़िन्दगी गुज़ारने पर मजबूर है।

ज़रूरत इस बात की है कि पूरे समाज का वातावरण बदले। औरत दीन और दुनिया के इल्म से सुसज्जित हो, अपने कर्त्तव्यों एवं अधिकारों को पहचाने। इस्लामी शिक्षाओं की पाबन्द हो। उसके जो अधिकार छीने जा रहे हैं उन्हें इस्लाम की बताई हुई सीमाओं के अन्दर प्राप्त करने का संघर्ष करे। साथ ही अपने कर्त्तव्यों को पूरा करने में लापरवाही न बरते, बल्कि सुन्दर तरीक़े और सलीक़े से पूरा करने की कोशिश करे। दूसरी ओर मर्द को भी अपने रवैये पर पुनः नज़र डालनी होगी। वह ख़ुशी-ख़ुशी औरत के अधिकार पूरा करे, जिस पहलू से भी उसपर

ज़्यादती हो रही हो उसे दूर करने में सुस्ती न दिखाए और उसे अच्छा, सम्मानजनक और शान्तिपूर्ण माहौल उपलब्ध कराए।

समाज का सुधार और उसके अन्दर इस्लामी वातावरण पैदा करना बड़ा कठिन काम है। इसे बड़ी बुद्धिमानी और कौशल के साथ अंजाम देना होगा। औरत के अन्दर बग़ावत की और मर्द के अन्दर उसे दबाने और कुचलने की भावना बिल्कुल नहीं होनी चाहिए, अन्यथा परिवार की व्यवस्था चरमरा जाएगी। दोनों पक्षों में क़ानूनी जंग की जगह मुहब्बत एवं प्रेम का वातावरण होना चाहिए जिसकी इस्लाम ने शिक्षा दी है। इसी से इस्लामी समाज का निर्माण सम्भव हो सकेगा।

जब इस्लाम ग़ालिब होगा

इस्लाम और ग़ैर-इस्लाम की कशमकश का यह दौर ख़त्म होने के बाद मुसलमान औरत यक़ीनन एक नई ज़िन्दगी और स्फूर्ति के साथ अमल के मैदान में आएगी। उसके कुछ प्रमुख पहलू ये होंगे—

ग़ैर-इस्लामी विचारधारा एवं दृ ष्टिकोण उसके लिए अपना आकर्षण खो देंगे। उनके झूठे प्रोपगण्डे और खोखले नारों की पोल खुल जाएगी और उनका प्रभाव समाप्त हो जाएगा। मुसलमान औरत इस्लामी विचारधारा की ध्वजावाहक, इस्लामी चरित्र का प्रतिरूप और इस्लामी संस्कार की पाबन्द होगी। उसकी पूरी ज़िन्दगी इस्लामी साँचे में ढल जाएगी।

वह इल्म की दौलत से सुसज्जित, दुनिया की समस्याओं की जानकार और दीनी सूझ-बूझ रखनेवाली होगी। फलस्वरूप उसे किसी वैचारिक भटकाव में डालना और दीन से फेरना आसान नहीं होगा।

इस्लाम ने उसे जो अधिकार दिए हैं, चाहे उनका सम्बन्ध सामाजिक जीवन से हो या राजनीतिक या आर्थिक जीवन से, वह उन सबसे मालामाल होगी और यह महसूस नहीं करेगी कि इस्लामी समाज में भी उसे अपने अधिकारों के लिए जिद्दोजुहद करनी पड़ती है। इस्लाम को वह अपना रक्षक महसूस करेगी। मौजूदा दौर की भ्रामक

समानता की अवधारणा की जगह वास्तविक समानता की अवधारणा से रूबरू होगी।

मुसलमान औरत को अपने कर्त्तव्यों और ज़िम्मेदारियों का भी एहसास होगा। वह पारिवारिक ज़िम्मेदारियों को छोटा नहीं समझेगी, बल्कि समाज के निर्माण में परिवार की जो अहमियत है उसे समझेगी। परिवार को इस्लाम का मज़बूत क़िला बनाने में पति की मददगार होगी और आनेवाली नस्ल को इस्लामी चरित्र में ढालने की कोशिश करेगी।

मुसलमान औरत का देश और मिल्लत (सम्पूर्ण इस्लामी जगत्) की समस्याओं से मज़बूत सम्बन्ध होगा। वह देश और मिल्लत के कल्याण के लिए सजग रहेगी और उसके लिए उचित क़दम उठाएगी। सामाजिक जीवन में प्रभावशाली भूमिका निभाएगी। समाज के उत्थान के लिए अपनी राय देगी, जो चीज़ उसे अनुचित लगेगी उसकी आलोचना करेगी और उसमें सुधार की कोशिश करेगी।

इस्लामी आन्दोलनों के लिए ध्यान देने योग्य बातें

यह एक हक़ीक़त है कि इस्लामी आन्दोलनों में मुसलमान औरतों की जो सहभागिता होनी चाहिए वह नहीं है। हालाँकि 'अम्र-बिल-मारूफ़ व नह्य अनिल-मुनकर' (भलाई का हुक्म देने और बुराई से रोकने) की ज़िम्मेदारी मर्द और औरत दोनों पर डाली गई। यह इस्लाम का दावती मक़सद (अर्थात् इस्लाम की ओर बुलाने का उद्‌देश्य) भी है और सियासी भी। इस्लाम जिस समाज का निर्माण चाहता है उसकी कल्पना उस समय तक नहीं की जा सकती जब तक कि दोनों (मर्द और औरत) भलाई को फैलानेवाले और बुराई को मिटानेवाले न बन जाएँ। क़ुरआन इस महान एवं पावन उद्‌देश्य के लिए दोनों के पारस्परिक सहयोग को ज़रूरी क़रार देता है। यही हक़ीक़त इस आयत में बयान हुई है—

وَالْمُؤْمِنُوْنَ وَالْمُؤْمِنٰتُ بَعْضُهُمْ اَوْلِيَآءُ بَعْضٍ يَاْمُرُوْنَ بِالْمَعْرُوْفِ
وَيَنْهَوْنَ عَنِ الْمُنْكَرِ وَيُقِيْمُوْنَ الصَّلٰوةَ وَيُؤْتُوْنَ الزَّكٰوةَ وَيُطِيْعُوْنَ اللّٰهَ

وَرَسُولَهُۥٓ ۚ أُولَٰٓئِكَ سَيَرْحَمُهُمُ ٱللَّهُ ۗ إِنَّ ٱللَّهَ عَزِيزٌ حَكِيمٌ ﴿٧١﴾

"ईमानवाले मर्द और ईमानवाली औरतें एक-दूसरे के मददगार हैं, वे भलाई का हुक्म देते हैं और बुराई से रोकते हैं। नमाज़ क़ायम करते और ज़कात अदा करते हैं और अल्लाह और उसके रसूल की इताअत (फ़रमाँबरदारी) करते हैं, यही लोग हैं जिनपर अल्लाह रहम करेगा। बेशक अल्लाह ज़बरदस्त (प्रभुत्वशाली) और हिकमतवाला (तत्त्वदर्शी) है।" (क़ुरआन, 9:71)

मुहम्मद (सल्ल॰) की नुबूवत के बाद का आरम्भिक इतिहास गवाह है कि अल्लाह का दीन क़बूल करने, उसके लिए कष्टों को सहन करने, हिजरत, जिहाद और इस्लामी राज्य की स्थापना जैसे विभिन्न मरहलों में औरतें मर्दों से कंधे से कंधा मिलाकर चलती रहीं। यही भूमिका आज मुसलमान औरत को दावत के काम में निभानी चाहिए। इसके लिए ज़रूरी है कि औरत को दावत के काम की अहमियत याद दिलाई जाए, इस राह में त्याग-बलिदान की भावना उसके अन्दर पैदा की जाए। उसे बताया जाए कि अल्लाह की इताअत (आज्ञाकारिता) की एक बुनियादी माँग 'अम्र-बिल-मारूफ़ व नह्य अनिल-मुनकर' भी है। इसे मर्द और औरत के सहयोग से ही पूरा किया जा सकता है। भलाई और नेकी के मिटने और बुराई के फैलने पर जो तड़प एक दीनदार मर्द में होनी चाहिए वही एक दीनदार औरत में भी होनी चाहिए। मर्द के साथ शरीअत की सीमाओं के अन्तर्गत औरत को उन सभी कामों में व्यावहारिक रूप से सम्मिलित किया जाए जो इस फ़र्ज़ को अदा करने के लिए ज़रूरी है।[1]

---

1. इस विषय में विस्तार से जानने के लिए लेखक की किताब 'मुसलमान औरतों की ज़िम्मेदारियाँ, प्रकाशक : मर्कज़ी मक्तबा इस्लामी पब्लिशर्स, नई दिल्ली-25 भी देखी जा सकती है।

औरत और अर्थव्यवस्था

इंस्टीट्यूट ऑफ़ पॉलिसी स्टडीज़ (IPS) पाकिस्तान की एक बौद्धिक एवं शोध संस्था है। इसका नेतृत्त्व विश्वविख्यात अर्थशास्त्री प्रोफ़ेसर ख़ुर्शीद अहमद कर रहे हैं और जनाब ख़ालिद रहमान सा॰ उनके सहायक और दायाँ बाज़ू हैं। मुझे अपनी पाकिस्तान-यात्रा में इस संस्था की ओर से 25 मार्च, 2005 ई॰ को 'औरत और अर्थव्यवस्था' शीर्षक पर भाषण का आमन्त्रण मिला। चयनित लोगों की सभा थी। सौ से ज़्यादा व्यक्ति उपस्थित थे, उनमें एक तिहाई शिक्षित महिलाओं की संख्या थी। भाषण के बाद प्रश्न-उत्तर का भी सत्र चला। कुछ प्रश्न विषय पर आधारित थे, कुछ अन्य प्रश्न भी किए गए, परन्तु उनका सम्बन्ध औरतों के मामलों से ही था। प्रश्न अधिकतर औरतों की ओर से थे। भाषण एवं प्रश्न-उत्तर कैसेट से नक़ल हुए हैं। उन्हें कुछ संशोधनों के बाद यहाँ पेश किया जा रहा है।

परिवार एक सामाजिक संस्था है। हर संस्था एक संगठनात्मक ढाँचे की माँग करती है। इसके बिना उसे सुचारु रूप से संचालित नहीं किया जा सकता, बल्कि उसका अस्तित्व ही ख़तरे में पड़ सकता है। परिवार-रूपी संस्था के लिए इस्लाम ने यह निर्देश दिया है कि परिवार की आन्तरिक व्यवस्था और मज़बूती के लिए औरतों पर ज़िम्मेदारी डाली जाए और उसकी आर्थिक ज़िम्मेदारी मर्द उठाए। मर्द की इस ज़िम्मेदारी में औरत का खाना, कपड़ा, आवास और यदि सम्भव हो तो सेवक (नौकर) की व्यवस्था करना भी शामिल है। दवा-इलाज की व्यवस्था भी मर्द के ज़िम्मे है।

यह तो हुई एक क़ानूनी अनिवार्यता। जहाँ तक नैतिकता का प्रश्न है तो व्यक्ति को पत्नी के साथ अच्छा-से-अच्छा रवैया अपनाना चाहिए

और उसके आराम व राहत का अपनी क्षमता की हद तक ख़याल रखना चाहिए।

इसमें शक नहीं कि औरत का अस्ल कार्य-क्षेत्र उसका अपना घर-परिवार ही है और उसे आर्थिक व्यस्तता से इसी लिए मुक्ति दी गई है कि वह परिवार की ख़ुशहाली और तरक़्क़ी पर अपना समय ख़र्च कर सके। लेकिन कभी-कभी इस तथ्य को इस प्रकार बयान किया जाता है कि वह कोई दूसरा काम करने का हक़ ही नहीं रखती या यह कि उसके लिए आर्थिक दौड़-भाग के सभी रास्ते बन्द कर दिए गए हैं। यह एक ग़लत विचार है। इस्लामी इतिहास से स्पष्ट है कि मुसलमान औरत ने घर-परिवार का हक़ अदा करने के साथ दीनी व दुनियावी सेवाएँ भी अंजाम दी हैं, आवश्यकतानुसार आर्थिक कोशिशें भी करती रही हैं। इस्लामी शिक्षाओं की रौशनी में इसपर विभिन्न पहलुओं से विचार किया जा सकता है—

(1) कभी परिवार की ज़रूरत होती है कि औरत धन कमाने में पति की मदद करे। यह स्थिति प्रायः मेहनत-मज़दूरी करनेवाले वर्ग में देखी जाती है कि पति-पत्नी दोनों की कोशिशों से आर्थिक ज़रूरतें पूरी होती हैं। व्यक्तिगत रूप से इस प्रकार की मजबूरी किसी उच्च शिक्षित या हुनरमन्द महिला को भी हो सकती है। इस स्थिति में यदि वह कोई जाइज़ आर्थिक ज़रीआ अपनाती है तो इसका उसे हक़ होगा।

(2) औरत की आमदनी के कुछ निर्धारित स्रोत हैं। उसे पति की ओर से महर मिलता है, वह अपने ज़ेवरात-गहनों की मालिक होती है। इसी प्रकार इस्लाम ने विरासत में उसका हक़ रखा है। इस हक़ के तहत सम्भावना होती है कि उसे नक़द राशि, ज़मीन, दुकान, मकान या और कोई चीज़ मिल जाए। इन सब चीज़ों को वह किसी लाभकारी कारोबार में लगा सकती है और अपनी आर्थिक स्थिति बेहतर बना सकती है।

(3) एक समय था कि औरत पर घर के कामकाज और घर को चलाने का बोझ बहुत ज़्यादा था। इसमें पति और बच्चों की देखरेख के अतिरिक्त अनाज साफ़ करना, चक्की चलाना, अनाज़ आदि कूटना-पीसना, खाना पकाना, पानी भरना, बर्तन और कपड़े धोना और घर की सफ़ाई जैसे बहुत-से कठिन एवं श्रमसाध्य काम शामिल थे। औरत उसमें निरंतर व्यस्त रहती थी। मौजूदा दौर मशीनी दौर है। औरत जो काम अंजाम देती थी उनमें से अधिकतर काम मशीनों के द्वारा अंजाम पाने लगे हैं। इस कारण, कम से कम शहरों में, उसकी व्यस्तता कम होती जा रही है। बच्चे तीन-चार साल की उम्र में नर्सरी भेज दिए जाते हैं। इस प्रकार घर पर उनकी देखभाल और निगरानी का भार कम हो रहा है। इन हालात में पारिवारिक ज़िम्मेदारियाँ अदा करने के बाद औरत को जो अतिरिक्त समय मिल रहा है उसे वह व्यवस्थित करे और अपनी और परिवार की आर्थिक स्थिति को बेहतर बनाने के लिए इस्तेमाल करे तो इसमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

(4) शादी के बाद औरत एक ख़ास समय तक ज़्यादा व्यस्त होती है। उसमें बच्चों की पैदाइश का सिलसिला रहता है। उनकी परवरिश, शिक्षा-दीक्षा, उनका चरित्र-निर्माण जैसे कर्त्तव्य पूरे करने होते हैं। इसे उसकी ज़िन्दगी का व्यस्ततम दौर कहना ग़लत नहीं होगा। परन्तु जब उसकी उम्र चालीस साल से ऊपर होने लगती है तो उसकी ये ज़िम्मेदारियाँ कम होने लगती हैं, परन्तु इस उम्र में उसकी योग्यता और क्षमता दोनों कम नहीं होतीं। वह चाहे तो आर्थिक-सरगर्मी जारी रख सकती है।

औरत अपने हालात और रुचि तथा क्षमता एवं योग्यता के अनुसार कोई हुनर और पेशा अपना सकती है। शिक्षा के क्षेत्र में जा सकती है। नौकरी की राहें भी उसके लिए बन्द नहीं हैं। वह व्यापार, कृषि, उद्योग-धंधे और इंडस्ट्री में अपनी पूँजी लगा सकती है और

सुविधानुसार उसकी निगरानी भी कर सकती है। इसी प्रकार धनोपार्जन के अन्य उचित तरीक़े भी वह अपने लिए सोच सकती है।

यहाँ यह बात ध्यान में रहे कि औरत का 'नान-नफ़क़ा' (रोटी, कपड़ा, आहार, पोशाक और आवास आदि) पति की ज़िम्मेदारी है। इसे अदा करना उसपर वाजिब (अनिवार्य) है। औरत सम्पन्न हो अथवा उसका कोई आर्थिक स्रोत है तो भी पति की यह ज़िम्मेदारी गौण नहीं होगी। वह हर हाल में बाक़ी रहेगी। औरत की आमदनी उसकी अपनी मिल्कियत है। वह अपनी इच्छा से उसमें से ख़र्च कर सकती है। पति यदि ग़रीब है और वह उसपर और बच्चों पर ख़र्च करती है तो यह उसका सद्व्यवहार होगा, क़ानूनी ज़िम्मेदारी नहीं होगी।

हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-मसऊद (रज़ि॰) की माली हालत कमज़ोर थी। उनकी पत्नी ज़ैनब (रज़ि॰) उनपर ख़र्च करती थीं। वे अल्लाह के रसूल मुहम्मद (सल्ल॰) के पास पहुँचीं और हज़रत बिलाल (रज़ि॰) के माध्यम से पूछा कि मैं अपने शौहर पर (और जो यतीम बच्चे मेरी गोद में हैं उनपर) ख़र्च कर सकती हूँ? एक अनसारी महिला भी यही सवाल लेकर आई थीं। आप (सल्ल॰) ने फ़रमाया—

نعم لهما اجران اجر القرابة واجر الصدقة۔

> "हाँ, उनके लिए दोहरा अज्र (दो गुना पुण्य) है, एक रिश्तेदारी का और दूसरा सदक़े का।"
>
> (हदीस : बुख़ारी किताबुज़-ज़कात, बाबुज़-ज़काति अलज़्-ज़ौजि वल-ऐतामि फ़िल-हिज्रि, मुस्लिम, किताबुज़-ज़कात, बाबु फ़ज़लिन-नफ़-क़ति वस्सद-क़ति अलल अक़रबीन वज़-ज़ौजि, वल-औलाद।)

औरत की आर्थिक क्षेत्र में भागीदारी पर चर्चा करते समय इन बातों को सामने रखना चाहिए, वरना डर है कि उसके क़दम ग़लत दिशा में बढ़ जाएँगे —

1. इस्लाम ने ज़िन्दगी के विभिन्न क्षेत्रों में हलाल और हराम की सीमा निर्धारित की है। उनकी पाबन्दी मर्द और औरत दोनों पर अनिवार्य होगी। इस्लाम के नज़दीक केवल हलाल आर्थिक स्रोत ही अपनाया जा सकता है। हराम आर्थिक स्रोत अपनाने की किसी को भी इजाज़त नहीं।
2. इस्लाम ने जो सामाजिक व्यवस्था प्रस्तुत की है उसकी प्रमुख विशेषता यह है कि वह मर्द और औरत के आज़ादाना मेल-जोल से पाक है, इसलिए औरत कोई ऐसा काम नहीं कर सकती जिसमें अजनबी मर्दों के साथ मिलकर काम करना पड़े। नारी की पवित्रता एवं उसकी अस्मिता एक अहम नैतिक मूल्य है। यह औरत के सम्मान की पूँजी है। इस्लाम चाहता है कि इसपर कोई आँच न आए और औरत कोई ऐसा क़दम न उठाए जिसमें उसकी इज़्ज़त पर आँच आने का ख़तरा पैदा हो जाए।
3. परिवार समाज की एक अहम संस्था है। धार्मिक व्यवस्था में भी इसे बुनियादी अहमियत प्राप्त है। यह मज़बूत होगी तो इस्लाम की मज़बूती और स्थायित्व का माध्यम होगी। यह ठीक न रही अथवा कमज़ोर पड़ गई तो सोसाइटी में इस्लाम का बाक़ी रहना और आगे बढ़ना सम्भव न होगा। इसे मर्द और औरत मिलकर चलाते हैं। इसमें उनके अधिकार एवं कर्त्तव्य हैं। इसमें औलाद की परवरिश और उसकी शिक्षा-दीक्षा की अहम ज़िम्मेदारी भी उनपर डाली गई। परिवार में माँ-बाप, भाई-बहन और दूर-नज़दीक के रिश्तेदारों के क़ानूनी और नैतिक अधिकार भी हैं और परिवार की ज़िम्मेदारियों में उनकी सहभागिता भी रहती है। इस पूरी प्रक्रिया में आन्तरिक रूप से औरत की मुख्य भूमिका रहती है। इसके लिए परिवार उसका समय और योग्यता चाहता है। धन कमाने की अहमियत है लेकिन औरत की आर्थिक सरगर्मी ऐसी न हो कि परिवार-व्यवस्था ही बिखर जाए, पारिवारिक कर्त्तव्य पीछे डाल दिए जाएँ, सम्बन्धों

की आत्मा धूमिल पड़ जाए और वे बेजान होकर रह जाएँ। परिवार व्यक्ति के लिए सुख-चैन का केन्द्र है और समाज को एक स्वस्थ विकास की ज़मानत देता है। इसका पतन व्यक्ति एवं समाज दोनों का पतन है। इसे नज़र-अन्दाज़ करके औरत का या औरत और मर्द दोनों का कोई क़दम उठाना सही न होगा।

विषय से सम्बन्धित प्रश्न एवं उत्तर

भाषण के बाद प्रश्न-उत्तर का सिलसिला शुरू हुआ। कुछ प्रश्नों का सम्बन्ध औरतों की अर्थव्यवस्था से था और कुछ का उसके अन्य सामाजिक पहलूओं से। पहले अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित प्रश्नं और उनके उत्तर पेश किए जा रहे हैं।

प्रश्न : (नौकरी के साथ 'नान-नफ़क़ा' का हक़)

औरतें अपनी नौकरी अथवा अन्य व्यस्तता के कारण घर की ज़िम्मेदारियाँ पूर्णतः अदा नहीं कर पातीं। ऐसी स्थिति में क्या वे 'नान-नफ़क़े' की हक़दार हैं?

उत्तर :

यहाँ दो स्थितियाँ हो सकती हैं। एक यह कि औरत पति की अनुमति से कोई काम करती हो। इसके कारण यदि वह घर की ज़िम्मेदारियों के लिए कम समय दे पाती है तो इसपर आपत्ति निरर्थक है। इस सूरत में औरत के 'नान-नफ़क़े' का हक़ बाक़ी रहेगा। दूसरी स्थिति यह है कि औरत पति की इच्छा के विरुद्ध कोई काम करती है। इसके कारण वह घर से बाहर वक़्त गुज़ारे या मायके जाकर बैठ जाए तो वह 'नान-नफ़क़े' की हक़दार न होगी। इसकी मिसाल ऐसी है कि आप छुट्टी लेकर या विधिवत् कहीं जाएँ तो आपके वेतन का हक़ बरक़रार रहेगा और बिना बताए चले जाएँ तो स्पष्ट है कि आप अपना हक़ खो देंगे।

प्रश्न : (जाइज़ नौकरियाँ)

हमारे समाज में वे कौन-सी नौकरियाँ हैं जो इस्लामी सीमाओं के अन्दर औरतों के लिए सही क़रार पा सकती हैं?

उत्तर :

मेरा ख़याल है कि इसका फ़ैसला एक मुसलमान औरत ख़ुद कर सकती है कि वह कौन-सी नौकरी है जिसमें वह शरीअत की सीमाओं की पाबन्द रह सकती है और कहाँ सीमाओं की पाबन्दी उसके लिए सम्भव नहीं है। जिस नौकरी में इन सीमाओं की पाबन्दी न हो सके उससे अवश्य बचना चाहिए।

प्रश्न : (नाजाइज़ नौकरी की मजबूरी)

कभी-कभी ऐसे हालात उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे पति की आमदनी कम है और आमदनी के अन्य स्रोत भी नहीं हैं तो मजबूरन ऐसी नौकरी भी करनी पड़ती है जिसमें शरीअत के निर्देशों की पाबन्दी नहीं हो पाती। इसमें सही रवैया क्या होगा?

उत्तर :

इस प्रकार की मजबूरियाँ वर्तमान सभ्यता एवं वर्तमान अर्थव्यवस्था की पैदा की हुई हैं। इस्लामी रियासत की ज़िम्मेदारी है कि वह ऐसे हालात पैदा करे कि हर व्यक्ति को इस्लामी सीमाओं के अन्दर धन कमाने के अवसर प्राप्त हों और उसे उन सीमाओं का उल्लंघन करने पर विवश न होना पड़े। इसके लिए आपको कोशिश करनी पड़ेगी कि आपका यह मुल्क सही अर्थों में इस्लामी रियासत बन जाए। फिर आप देखेंगी कि जो औरतें पढ़ी-लिखी हैं, जिनके पास वक़्त है और जो देश की अर्थव्यवस्था को आगे बढ़ा सकती हैं उनके लिए निर्धारित काम हैं और इस्लामी सीमाओं में रहते हुए उनकी सेवाएँ प्राप्त की जा सकती हैं। वर्तमान हालात में यदि कहीं आपको मजबूरन इस्लामी सीमाओं से आगे बढ़ना पड़े तो उसे मजबूरी ही समझें। इसे सैद्धान्तिक रूप से

शरीअत के अनुकूल नहीं समझा जाएगा।

प्रश्न : (नान-नफ़क़े के रूप)

हदीस में मर्द से कहा गया है कि जो ख़ुद खाओ वह पत्नी को खिलाओ, जो ख़ुद पहनो वह पत्नी को पहनाओ, इस आधार पर कुछ औरतें समझती हैं कि खाना, पकाना और खिलाना और रसोई के अन्य काम उनकी ज़िम्मेदारी में शामिल नहीं है, इसलिए वे यह काम नहीं करेंगी। मर्द की ज़िम्मेदारी है कि वह तैयार खाना उपलब्ध कराए। क्या फ़ुक़हा ने भी ऐसी कोई बात कही है?

उत्तर :

हमारे फ़ुक़हा के यहाँ इस प्रकार की क़ानूनी बहसें मिलती हैं कि घर के काम को अंजाम देना औरत की ज़िम्मेदारी में शामिल है या नहीं? मेरा ख़याल है कि हदीस में यह जो बात कही गई है कि 'मर्द जो खाए वही अपनी पत्नी को खिलाए और जो पहने वही पत्नी को पहनाए' तो इसका मतलब यह नहीं है कि पका हुआ खाना उसे उपलब्ध कराए और रेडीमेड वस्त्र उसे पहनाए, बल्कि इसका मतलब यह है कि तुम्हारी पत्नी का जीवन-स्तर अथवा स्टेटस तुमसे कम नहीं होना चाहिए। कम-से-कम हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में ऐसा नहीं होता कि औरत का जीवन-स्तर मर्द के जीवन-स्तर से कम हो, बल्कि मर्द प्रायः औरतों को अपने से बेहतर हालत में रखते हैं। कभी-कभी, स्वभाव की भिन्नता, सहनशक्ति की कमी, आपसी रंजिश अथवा दूसरे कारणों से औरतों से अनुचित व्यवहार होने लगता है। इसलिए कहा गया कि पत्नी जब तक पत्नी है, उसका हक़ है कि मर्द का जो जीवन-स्तर है वह पत्नी का भी हो। यह न हो कि उसे उसकी ज़रूरतों के लिए ख़र्च न दिया जाए अथवा दिया जाए तो अपने जीवन-स्तर से कम हो। मर्द ख़ुद तो अपनी ज़रूरतों के लिए कार इस्तेमाल करे और पत्नी के लिए रिक्शा की भी सुविधा न हो। अपने लिए कई नौकर-चाकर हों और पत्नी के लिए कोई नौकरानी न हो। जहाँ तक खाना पकाने और घर के काम-काज का

सम्बन्ध है तो मुहम्मद (सल्ल॰) के समय भी औरतें यह काम अंजाम देती थीं, आज भी अंजाम देती हैं। यदि कोई औरत इसे अपनी क़ानूनी ज़िम्मेदारी न समझे और उससे हाथ पीछे कर ले तो उसे पति से भी केवल क़ानूनी हक़ ही की अपेक्षा करनी चाहिए। उसे उस सद्व्यवहार की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए जिससे वह ज़िन्दगी-भर लाभान्वित होती रहती है।

प्रश्न : (औरत की नौकरी के लिए नए नियम की ज़रूरत)

आपने अपने भाषण में फ़रमाया कि कोई दौर ऐसा हो सकता है जिसमें औरत को धन कमाने की ज़रूरत ही न हो, लेकिन एक दौर ऐसा भी हो सकता है कि धन कमाने की वाक़ई ज़रूरत हो। परन्तु यदि औरत को आर्थिक क्षेत्र में आना है तो उसे शुरू से इसके लिए तैयार होना पड़ेगा। इसका मतलब यह है कि औरत की शिक्षा ऐसी हो जिसके द्वारा उसे रोज़गार आदि के अवसर मिल सकते हों, वरना वह बाद में इस क्षेत्र में कैसे प्रवेश करेगी?

उत्तर :

यह प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण एवं विचारणीय है। औरत यदि ऐसी शिक्षा प्राप्त करती है जिससे उसे रोज़गार मिल सकता हो तो उसे इसका हक़ है। इसपर पाबन्दी लगाना सही नहीं होगा। परिवार की ज़िम्मेदारियाँ अदा करने के बाद वह पति की अनुमति से कोई काम करना चाहती है या उम्र की एक अवधि में वह इसके लिए ज़्यादा समय देने के पक्ष में है तो उसे इसका अवसर मिलना चाहिए। उसके उचित उपायों पर विचार किया जाना चाहिए। इसी सन्दर्भ में उसकी नौकरी का सवाल भी सामने आता है। इस समय जो नियम और क़ानून मौजूद हैं उनमें अधिकतर मर्दों की सुविधाओं को सामने रखा गया है। मर्दों के लिए काम का जो समय है, हो सकता है कि वह औरतों के लिए उचित न हो। मर्दों की नियुक्ति (Appointment) और सेवानिवृत्ति (Retirement) के जो विधान हैं, औरतों के लिए उनमें तब्दीली लानी पड़ेगी। चालीस वर्ष की उम्र में भी यदि औरत नौकरी शुरू करना चाहे तो उसे इसका अवसर

प्राप्त हो और उसकी सेवानिवृत्ति भी साठ के बाद हो। इसके साथ उसकी कार्यक्षमता और स्वास्थ्य एवं सामर्थ्य को भी सामने रखना पड़ेगा। इस पहलू से हम सबको तो विचार करना ही चाहिए, परन्तु मूलतः यह राज्य की ज़िम्मेदारी है कि वह इस्लामी दृष्टिकोण से इन तमाम पहलुओं की समीक्षा करे और औरतों की सेवाएँ प्राप्त करने के लिए कोई नया सर्विस-कोड बनाए।

कुछ अन्य प्रश्न

प्रश्न : (चादर और चार-दिवारी)

हमारे यहाँ एक समय क़ुरआन की इस शिक्षा के आधार पर कि وَ قَرْنَ فِيْ بُيُوْتِكُنَّ "औरतें अपने घरों में टिककर रहें", 'चादर और चारदिवारी' की टर्म (Term) इस्तेमाल की गई। इसके ख़िलाफ़ महिलाओं की आज़ादी (Women Liberty) के लिए तथाकथित संस्थाओं ने ख़ूब हल्ला मचाया और इसे औरत की आज़ादी के ख़िलाफ़ क़रार दिया। इस सम्बन्ध में हम इस्लाम का दृष्टिकोण जानना चाहेंगे।

उत्तर :

क़ुरआन में ये जो शब्द आए हैं, وَ قَرْنَ فِيْ بُيُوْتِكُنَّ 'व क़र-न फ़ी बुयूतिकुन' (अपने घरों में सुकून से टिकी रहो), इसका मतलब यह नहीं है कि औरत घर के अन्दर बन्द रहे और घर से बाहर न निकले। इसमें जिस बात की मनाही है वह यह कि औरत इस प्रकार घर न छोड़े कि उसकी व्यवस्था ही चरमरा जाए। मुहम्मद (सल्ल॰) के समय औरतें मस्जिद जाया करती थीं, बाज़ार में भी उनकी आवाजाही थी, खेती-बाड़ी और कुछ अन्य कार्यों के लिए भी घर से निकलती थीं। हज और उमरा के लिए जाया करती थीं। किसी ने उन्हें नहीं टोका। बल्कि हज तो सामर्थ्य की शर्त के साथ मर्द की तरह औरत पर भी फ़र्ज़ (अनिवार्य) है। इस्लाम ने घर की आन्तरिक व्यवस्था औरत के सिपुर्द की है। उसकी ज़िम्मेदारी है कि घर को सुकून, हिफ़ाज़त, राहत और आराम का

ज़रीआ बनाए और ऐसा रवैया न अपनाए जिससे लगे कि उसके ध्यान का केन्द्र घर नहीं बल्कि बाज़ार, दफ़्तर या कारख़ाना है। इसके बाद यदि वह किसी दीनी या दुनियावी ज़रूरत के लिए घर से बाहर निकलती है तो ग़लत नहीं है। इसे 'व क़र-न फ़ी बुयूतिकुन-न' की ख़िलाफ़वर्ज़ी नहीं कहा जाएगा।

प्रश्न : (मर्द की क़व्वामियत या प्रधानता)

क़ुरआन में 'अर-रिजालु क़व्वामून' (मर्द हाकिम हैं) कहा गया है। इसके तहत पत्नी के भरण-पोषण की ज़िम्मेदारी मर्द पर डाली गई है। सवाल यह है कि एक पति जो बेरोज़गार है और पत्नी का आर्थिक बोझ नहीं उठा रहा है, या वह शारीरिक रूप से विकलांग है और उसे शारीरिक सुरक्षा (Physical Protection) नहीं दे सकता, क्या फिर भी वह 'क़व्वाम' (हाकिम) ही होगा?

उत्तर :

आप इससे भी भयानक मिसाल पेश कर सकती हैं। एक आदमी अन्धा है या विकलांग और लाचार है। ख़ुद मदद और सहायता का मोहताज है। औरत उसकी सेवा करती और उसके ख़र्च बर्दाश्त करती है तो क्या इस स्थिति में भी मर्द की हैसियत 'क़व्वाम' की ही होगी? इसका जवाब यह है कि क़ुरआन ने जाति के रूप में मर्द को 'क़व्वाम' कहा है। इसके दो कारण बयान किए हैं। एक यह कि अल्लाह ने मर्द को औरत पर श्रेष्ठता एवं प्रधानता प्रदान की है। यह प्रधानता शारीरिक, मानसिक एवं व्यावहारिक तीनों पहलुओं से या एक या दो पहलू से हो सकती है। इस प्रधानता के कारण इस्लाम ने औरत के मुक़ाबले में मर्द पर राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक ज़िम्मेदारियाँ भी ज़्यादा डाली हैं। मर्द के 'क़व्वाम' होने का दूसरा कारण यह बताया गया है कि वह औरत पर अपना माल ख़र्च करता है। यह एक सामान्य बात है। अपवाद की मिसालें हर दौर में रही हैं। आज भी मौजूद हैं कि एक औरत मानसिक एवं शारीरिक दृष्टि से मर्द से बेहतर है और उसकी

आर्थिक स्थिति भी मज़बूत है और वह पति पर ख़र्च भी कर रही है, इसके बावुजूद मर्द के 'क़व्वाम' होने की हैसियत समाप्त नहीं हो जाएगी। वरना मर्द यदि अपने मर्द होने की वजह से और औरत अपनी आर्थिक हैसियत की वजह से एक-दूसरे से टकराने लगें तो घर की व्यवस्था बर्बाद होकर रह जाएगी। दूसरे यह कि क़ुरआन मर्द को 'क़व्वाम' कहने के साथ नेक पत्नी की प्रशंसा भी करता है कि वह पति के आदेशों का पालन करती है और उसकी अनुपस्थिति में अपनी इज़्ज़त और अस्मिता एवं पति के माल-असबाब, उसके आन्तरिक मामलों और गुप्त बातों की हिफ़ाज़त करती है। (क़ुरआन, 4:34) इसलिए क़ुरआन और हदीस का मंशा यह है कि औरत हर हाल में मर्द को 'क़व्वाम' समझे, उसके आदेशों की अवहेलना न करे और उसके साथ अदब और सम्मान का रवैया अपनाए। अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने नेक पत्नी की यह परिभाषा की है कि पति उसे देखे तो वह उसे ख़ुश कर दे, कोई हुक्म दे तो फ़रमाँबरदारी करे और अपने नफ़्स और उसके माल में कोई ऐसा रवैया न अपनाए जो उसे नापसन्द हो।

(हदीस : मिश्कातुल-मसाबिह, किताबुन्-निकाह बाबु- इशर-तिन-निसाई वमा लिकुल्लि वाहिदिन मिनल-हुक़ुक़। बहवाला नसई व बैहक़ी)

प्रश्न : (तलाक़ के बाद पत्नी का भरण-पोषण)

कभी-कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि एक व्यक्ति को आर्थिक रूप से सुदृढ़ बनाने में उसकी पत्नी उसका साथ देती है और वह उसके सहयोग के कारण किसी अच्छे स्थान पर पहुँच जाता है। फिर किसी छोटे-मोटे मतभेद के कारण उनमें अलगाव हो जाता है। उसके बाद औरत के सभी अधिकार समाप्त हो जाते हैं। इसका क्या औचित्य है? ऐसी औरतों के भरण-पोषण का कौन ज़िम्मेदार होगा?

कुछ लोग आसानी से इसका जवाब देते हैं कि उस औरत का बाप उसके भरण-पोषण का ज़िम्मेदार होगा। परन्तु तार्किक दृष्टि से यह बात बड़ी अजीब-सी मालूम होती है कि एक औरत ने शादी के

चालीस-पचास बरस जो उसकी ज़िन्दगी के बेहतरीन दिन थे, पति के साथ गुज़ारे, सकारात्मक रूप से अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह किया, अच्छा सहयोग (Contribute) दिया, अब वह बाप के घर आ जाए। बूढ़े बाप पर बेटी के भरण-पोषण की ज़िम्मेदारी डालना क्या बुद्धि के विपरीत नहीं है?

उत्तर :

जो स्थिति आपने बयान की है इस प्रकार की कुछ अन्य परिस्थितियाँ और भी हो सकती हैं, जिनमें औरत के नान-नफ़्क़े (भरण-पोषण) का सवाल उत्पन्न होता है। जैसे जो बच्ची यतीम है उसके नान-नफ़्क़े, शिक्षा-दीक्षा और शादी का ज़िम्मेदार कौन होगा? इसी प्रकार जिस औरत को उसका पति तलाक़ दे या पति की मृत्यु हो जाए तो उसके भविष्य का क्या होगा? जबकि ये घटनाएँ ठीक जवानी में भी घट सकती हैं और अधेड़ तथा बड़ी उम्र में भी। इस मामले में शरीअत का नियम यह है कि जो औरत अपना आर्थिक बोझ स्वयं न उठा सके, उसकी ज़िम्मेदारी उसके निकटतम मर्द रिश्तेदारों पर आएगी– हाँ, यहाँ याद रहे कि पत्नी यदि ख़ुशहाल हो तो भी मर्द पर उसका भरण-पोषण वाजिब है– यतीम बच्ची का ज़िम्मेदार उसका निकटतम रिश्तेदार होगा। जैसे दादा, भाई, चाचा आदि। इसी प्रकार किसी जवान औरत के पति की मृत्यु हो गई या उसे तलाक़ दी गई और वह अपने ख़र्च पूरे करने का कोई ज़रीआ नहीं रखती है तो वह बाप के पास उन सभी अधिकारों के साथ आ जाएगी जो शादी से पहले उसे प्राप्त थे। बड़ी उम्र की औरत इस स्थिति में घिर जाए तो उसकी औलाद उसके ख़र्च की ज़िम्मेदार होगी। इस प्रकार शरीअत में भरण-पोषण का एक सिस्टम है। उसके तहत ये समस्याएँ हल हो सकती हैं। यह अलग बात है कि हम शरीअत की पाबन्दी न करें और समस्याओं को समाधान के योग्य न समझें। अब आप खोज-खोजकर ऐसी मिसालें पेश करें कि एक औरत का न बाप है, न बेटा है, न भाई है, न चाचा है और है तो उसका

आर्थिक बोझ सहन करने के पक्ष में अथवा स्थिति में नहीं है, तो इसका जवाब है कि ऐसी स्थिति में इस्लाम ने राज्य (हुकूमत) की यह ज़िम्मेदारी क़रार दी है कि वह उसकी समस्या का समाधान करे। यदि वह इससे लापरवाही करता है तो अपना कर्त्तव्य नहीं निभाता है। यदि राज्य किसी ऐसी औरत का भरण-पोषण नहीं करता जो बेसहारा है और जिसका कोई शुभचिन्तक नहीं है तो उसका वुजूद बेमानी है। वास्तव में एक इस्लामी समाज और इस्लामी रियासत में किसी ऐसी बेबस व बेसहारा औरत की कल्पना मुश्किल ही से की जा सकती है जिसका कोई पोषक न हो।

प्रश्न : (तलाक़शुदा औरत का जीवन-भर गुज़ारा-भत्ता)

कभी-कभी यह प्रस्ताव सामने आता है कि जो व्यक्ति तलाक़ दे उसपर जब तक तलाक़शुदा औरत जीवित है, उसका गुज़ारा-भत्ता अनिवार्य कर दिया जाए। इस प्रकार एक तो तलाक़ देना आसान न होगा, दूसरी ओर तलाक़शुदा औरत के भरण-पोषण की समस्या किसी हद तक दूर होगी। इस सन्दर्भ में आपकी क्या राय है?

उत्तर :

यह प्रस्ताव शरीअत के विपरीत है। कारण यह कि शरीअत ने तलाक़ के बाद केवल 'इद्दत'[1] की अवधि तक औरत के भरण-पोषण को अनिवार्य किया है। शरीअत ने जो चीज़ अनिवार्य नहीं की है उसे हम शरीअत के नाम पर किस प्रकार अनिवार्य कर सकते हैं? दूसरी बात यह कि यह प्रस्ताव ऊपरी तौर पर औरत के हित में प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में यह उसके लिए हानिकारक है। एक व्यक्ति अपनी मूर्खता या पत्नी की किसी कमज़ोरी के कारण उससे अलग होना चाहता

1. वह अवधि जिसमें औरत दूसरा निकाह न कर सके। तलाक़शुदा के लिए यह अवधि तीन महीने की है, विधवा के लिए चार माह दस दिन और गर्भवती तलाक़शुदा अथवा विधवा के लिए गर्भावस्था समाप्त होने तक।

है। यदि आप उससे कहें कि तलाक़ दोगे तो याद रखो तलाक़शुदा को जीवन-भर भरण-पोषण देना होगा, सोचिए फिर वह तलाक़ क्यों देगा? वह न तो पत्नी को पत्नी की तरह रखेगा और न उसे तलाक़ देगा कि वह आज़ादी से अपने बारे में कोई फ़ैसला कर सके। उसे लटकाए रखने में ही अपना फ़ायदा समझेगा। कभी औरत स्वयं भी अपने ग़लत स्वभाव के कारण पति से मुक्ति प्राप्त करना चाहती है। इस स्थिति में तलाक़ से उसका मक़सद पूरा होता है। इस पहलू से तलाक़ की राह में रुकावटें पैदा करना औरत के लिए हानिकारक है। वह विवश होकर अदालत का दरवाज़ा खटखटाएगी और अदालत की लम्बी कार्रवाई के बाद अपने पति से मुक्ति पा सकेगी।

प्रश्नः (औरत ही के लिए परदे की पाबन्दी क्यों?)

औरत को परदे का हुक्म है और मर्द बिना परदे के रहता है, क्या यह युक्तिसंगत है? क्या यह औरत-मर्द की समानता की अवधारणा के विपरीत नहीं है? क्या इससे न्याय की अपेक्षाओं को चोट नहीं पहुँचती? इनसान की बुद्धि कहती है कि मर्द और औरत दोनों को समान सतह पर होना चाहिए। आख़िर औरत के परदे के लिए औचित्य का क्या कारण है?

उत्तर :

इस हक़ीक़त से इनकार नहीं किया जा सकता कि प्रकृति ने मर्द और औरत के बीच बड़ा यौन-आकर्षण रखा है। उनके आपसी मेलजोल और बेपरदा रहने से यौन-भावनाएँ जागृत होती हैं और वे काम-वासना के शिकार हो जाते हैं। इतिहास का अनुभव एवं वर्तमान का अवलोकन इस तथ्य का साक्षी है कि बेपरदगी ने बलात्कार एवं व्यभिचार को बढ़ाया है और इज़्ज़त की चादर तार-तार हुई है। परदा इससे सुरक्षा प्रदान करता है। अब इसके दो ही तरीक़े सम्भव हैं। परदे में मर्द रहे या औरत। इस्लाम ने औरत को परदे का हुक्म दिया है। यह मानव प्रकृति एवं स्वभाव के ज़्यादा अनुकूल है। मर्द को इसका हुक्म इसलिए नहीं

दिया गया कि यदि वह परदे में चला जाए तो जीवन का कारख़ाना बर्बाद हो जाएगा। मर्द के ज़िम्मे आर्थिक दौड़-धूप है, उसपर अपनी और अपने परिवार के भरण-पोषण की ज़िम्मेदारी है। इसके लिए उसे कभी-कभी इतने कठिन और श्रमसाध्य काम करने पड़ते हैं, जो औरत के नाज़ुक स्वभाव एवं प्रकृति से मेल नहीं खाते। इन सब बातों को नज़रअन्दाज़ करके मर्द को हिजाब (परदा) में भेज दिया जाए और औरत को आज़ाद रखा जाए तो इसका मतलब होगा कि मर्द घर में बैठा रहे और औरत अपनी और परिवार की आर्थिक ज़िम्मेदारी सहन करे। औरत इसमें सक्षम नहीं हो सकती।

प्रश्न : (औरत-मर्द का मेलजोल)

आज औरत-मर्द का मोलजोल विभिन्न रूपों में होता है। क्या सभी रूप समान रूप से प्रतिबन्धित हैं? एक सभा में औरत-मर्द की अलग-अलग बैठने की जगह हो जैसा कि इस सभा में है, इसे भी कुछ लोग नापसन्द करते हैं। इसे स्पष्ट करें।

उत्तर :

यह तय है कि इस्लाम औरत-मर्द के मेलजोल को प्रतिबन्धित क़रार देता है। यह मेलजोल जितना ज़्यादा होगा प्रतिबन्ध भी उतना कठोर होगा। मेलजोल की कई सूरतें हो सकती हैं। एक सूरत यह है कि किसी सभा में मर्द और औरत की सीटें मिली-जुली हों, आपस में हँसी-मज़ाक़ हो रहा हो। उन्हें एक-दूसरे से क़रीब और बेतकल्लुफ़ होने के अवसर प्राप्त हों और वे इन अवसरों का फ़ायदा उठा रहे हैं तो इस प्रकार का मेलजोल नाजाइज़ तथा हराम होगा। कारण यह है कि इसमें आदमी के ग़लत दिशा में बढ़ जाने की काफ़ी सम्भावना है। दूसरी सूरत क्लास-रूम की है। मान लीजिए क्लास में 50 विद्यार्थी हैं, इसमें 25 लड़के और 25 लड़कियाँ हैं। दोनों के लिए अलग-अलग बैठने की जगह है तो इसमें वैसे तो दोनों एक ही सभा में हैं, परन्तु मेलजोल नहीं है,

इसमें ऊपरी तौर पर कोई आपत्ति नहीं महसूस होती। अल्लाह के रसूल मुहम्मद (सल्ल॰) के ज़माने में औरतें मस्जिद और ईदगाह में आती थीं परन्तु उनकी सफ़ें (नमाज़ के लिए पंक्तियाँ) अलग होती थीं। वे मर्दों के साथ नमाज़ अदा करतीं और आप (सल्ल॰) के उपदेशों से लाभान्वित होती थीं। बाज़ार में मर्द और औरत साथ चलते हैं, परन्तु इसमें बेतकल्लुफ़ी के अवसर नहीं होते। अतः इसे आवश्यकतानुसार स्वीकार किया जा सकता है।

इस समस्या का एक और पहलू भी है। वह यह कि उम्र के अन्तर को भी सामने रखना चाहिए। क़ुरआन में लिबास के मामले में बड़ी उम्र की औरतों के साथ नर्मी की गई है। (सूरा नूरः60) इससे नतीजा निकाला जा सकता है कि मेलजोल के मामले में इस्लाम एक जवान औरत से जिस सतर्कता और सावधानी की माँग करता है, उम्रदराज़ औरतों से उसकी यह माँग नहीं है।

प्रश्न : (मस्जिदों में औरतों की उपस्थिति)

अल्लाह के रसूल मुहम्मद (सल्ल॰) के ज़माने में औरतें मस्जिद जाया करती थीं, लेकिन हमारे उलमा मस्जिदों में औरतों के आने-जाने को बिगाड़ और बुराई का कारण क़रार देते हैं और इसका फ़िक़ही (इस्लामी धर्म-विधान से) हवाला भी देते हैं। इसका एक बड़ा नुक़्सान यह है कि औरतें उन उपदेशों और नसीहतों से वंचित रहती हैं जो मस्जिदों में पेश की जाती हैं। यह अजीब बात है कि बाज़ार में औरतों की आवाजाही रहती है और वे निस्संकोच घूमती-फिरती हैं, इसका विरोध नहीं किया जाता लेकिन मस्जिदों में जाने से उन्हें रोका जाता है। इस सम्बन्ध में सही रवैया स्पष्ट करें?

उत्तर :

इसमें सन्देह नहीं कि अल्लाह के रसूल मुहम्मद (सल्ल॰) के मुबारक दौर में औरतें मस्जिद जाया करती थीं। उनके लिए अलग से

व्यवस्था भी रहती थी। इसके बावुजूद आप (सल्ल॰) ने फ़रमाया कि औरत का घर में नमाज़ पढ़ना मस्जिद में पढ़ने से ज़्यादा श्रेष्ठ है। यह भी हिदायत फ़रमाई कि औरतें रात के समय में मस्जिद जाएँ, दिन में न जाएँ। इसका मतलब यह है कि औरतों के लिए जमाअत के साथ नमाज़ पढ़ना फ़र्ज़ अथवा वाजिब अथवा श्रेष्ठ होने का कारण नहीं है, बल्कि हालात की दृष्टि से केवल इसकी अनुमति दी गई है।[1] उलमा ने औरतों के मस्जिद जाने को प्रोत्साहन नहीं दिया। और यदि विरोध किया तो इसकी वजह वर्तमान का बिगड़ा हुआ माहौल और नैतिक पतन है।

आप कहती हैं कि औरतों को मस्जिद में आने से रोका जाता है, लेकिन वह बाज़ार में घूमती-फिरती हैं उसपर कोई आपत्ति नहीं। इसका जवाब यह है कि मस्जिद और बाज़ार में अन्तर है। मस्जिद इबादत की जगह और अत्यन्त पवित्र एवं सम्मान की जगह है। उसका तक़ाज़ा है कि आदमी न केवल शारीरिक रूप से बल्कि मानसिक एवं मनोवैज्ञानिक रूप से भी पाक-साफ़ होकर मात्र अल्लाह की इबादत के लिए वहाँ पहुँचे। उसका दिलो-दिमाग़ मानसिक गन्दगियों और कुभावनाओं से पाक हो। मौजूदा हालात में औरतों के अधिक संख्या में मस्जिद आने-जाने से इस वातावरण का बाक़ी रहना कठिन है। बाज़ार का मामला इससे भिन्न है। औरतें रोज़मर्रा की ख़रीदारी के लिए बाज़ार जाती हैं। बाज़ार भौतिक चीज़ों की ख़रीद-बिक्री की जगह है। वहाँ मस्जिद की तरह सम्मान की कोई कल्पना नहीं होती। और फिर औरतों को यह इजाज़त भी ज़रूरत के तहत दी गई है। यदि वे बिना किसी ज़रूरत के मात्र सैर-सपाटे या मनोरंजन के लिए बाज़ार में घूमती हैं तो यह शरीअत के अनुसार सही नहीं होगा। इसके सुधार की कोशिश होनी चाहिए। अल्लाह के रसूल मुहम्मद (सल्ल॰) की हिदायत है कि औरत बिना ज़रूरत घर से बाहर न निकले, निकले तो बन-सँवर कर न निकले,

---

1. इस सम्बन्ध में और विस्तार से जानने के लिए इसी किताब में एक अन्य प्रश्न देखें।

लिबास भड़कीला न हो बल्कि सादा हो, तेज़ ख़ुशबू न लगाए, रास्ते में भीड़-भाड़ से बचे और किनारे-किनारे चले। इस प्रकार की और भी हिदायतें हैं जिनका ध्यान रखना एक मुसलमान औरत के लिए ज़रूरी है अन्यथा वह शरीअत की ख़िलाफ़वर्ज़ी की दोषी होगी।

अब रहा यह सवाल कि मस्जिदें उपदेशों और नसीहतों का केन्द्र भी हैं। औरतें यदि मस्जिद न आएँ तो उससे फ़ायदा नहीं उठा सकतीं। इस सम्बन्ध में मेरा विचार है कि औरतों को इसके अवसर ज़रूर मिलने चाहिएँ और ऐसी व्यवस्था ज़रूर होनी चाहिए कि वे मस्जिदों में होनेवाले क़ुरआन के दर्स, उपदेशों और भाषणों से लाभान्वित हो सकें। विशेषकर जुमा और ईद-बक़रीद में उनकी उपस्थिति की व्यवस्था होनी चाहिए। इससे उनके धार्मिक ज्ञान में वृद्धि होगी और उनमें धार्मिक भावना प्रवृत्त होगी। हदीस में औरतों को प्रेरित किया गया है कि वे ईदगाह पहुँचें और नमाज़ में सम्मिलित हों।

प्रश्न : (शासनाध्यक्ष का मुद्दा)

कहा जाता है कि औरत किसी इस्लामी रियासत की शासनाध्यक्ष नहीं हो सकती। यदि यह सही है तो मौलाना मौदूदी (रह०) ने क़ौम की माँ, फ़ातिमा जिन्नाह के बारे में जो राय ज़ाहिर की उसे क्या समझा जाए?

उत्तर :

अल्लाह के रसूल मुहम्मद (सल्ल०) ने स्पष्ट फ़रमाया है कि "वह क़ौम कभी फ़लाह (कामयाबी) नहीं पा सकती जिसकी सरबराह (शासनाध्यक्ष) कोई औरत हो।" इसलिए सम्पूर्ण मुस्लिम जगत् का इसपर मतैक्य है कि औरत पर इसकी ज़िम्मेदारी नहीं डाली जा सकती।[1]

मेरा विचार है कि मौलाना मौदूदी (रह०) ने फ़ातिमा जिन्नाह के बारे में जो फ़ैसला किया था वह एक अंतरिम एवं अस्थायी फ़ैसला था।

---

1. और विस्तार से इसी किताब के एक अन्य प्रश्न के उत्तर में आ रहा है।

राष्ट्रपति अय्यूब ख़ाँ तानाशाह थे। मुल्क के सभी अधिकार उनके हाथ में थे और शासन-व्यवस्था में परिवर्तन के लोकतान्त्रिक रास्ते वे बन्द कर देना चाहते थे। यह अपने-आप में एक ग़ैर-इस्लामी और ग़ैर-लोकतांत्रिक व्यवहार था। इससे नजात पाने, नागरिकों के लोकतान्त्रिक अधिकार बहाल करने और मुल्क में इस्लामी शासन की राह निकालने के लिए मौलाना मौदूदी (रह.) ने फ़ातिमा जिन्नाह के समर्थन का फ़ैसला किया था। मुल्क को सियासी भँवर से निकालने के लिए यह एक अस्थायी फ़ैसला था। शरीअत का कोई स्थायी नियम या क़ानून नहीं था।

प्रश्न : (औरत और क़ाज़ी/जज का पद)

क्या औरत क़ाज़ी अथवा जज हो सकती है? क्या अल्लाह के रसूल मुहम्मद (सल्ल.) के ज़माने में औरत क़ाज़ी या जज रही है या यह मसला इज्तिहादी (विचारणीय) है?

उत्तर :

अल्लाह के रसूल (सल्ल.) ख़ुद क़ाज़ी थे। यह आपकी रिसालत की ज़िम्मेदारी का अनिवार्य अंग था। सभी फ़ैसले आप (सल्ल.) ख़ुद फ़रमाते और आप (सल्ल.) का फ़ैसला अन्तिम होता। आप (सल्ल.) के नियुक्त किए हुए अधिकारी और गवर्नर आपके प्रतिनिधि की हैसियत से मामलों के फ़ैसले किया करते थे। उनमें कोई महिला नहीं थी। हाँ, अल्लाह के रसूल (सल्ल.) और ख़ुलफ़ाए-राशिदीन के दौर में जो लोग शरीअत के आदेश बयान करते या फ़तवे देते उनमें महिलाएँ भी थीं। उनमें मुसलमानों की माँ हज़रत आइशा (रज़ि.) का नाम बहुत प्रमुख है। फ़ुक़हा (इस्लामी विधान के विद्वानों) ने इस मसले पर बहस की है कि औरत क़ाज़ी हो सकती है या नहीं? यह एक इज्तिहादी मसला है। कुछ उलमा इसके पक्ष में नहीं हैं। हनफ़ी मसलक की राय यह है कि हुदूद व क़िसास के अतिरिक्त अन्य मामलों में उसकी गवाही स्वीकार की जा सकती है। जिन मामलों में उसकी गवाही स्वीक़ार की जा सकती है

उनमें वह फ़ैसला भी कर सकती है। इसका मतलब यह है कि कुछ प्रतिबन्धों के साथ वह क़ाज़ी या जज हो सकती है। इसपर और अधिक चिन्तन-मनन की ज़रूरत महसूस होती है।

प्रश्न : (महिलाओं के लिए आरक्षण)

महिलाएँ शैक्षणिक, आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से पुरुषों से काफ़ी पीछे हैं। उन्हें आगे बढ़ाने के लिए आरक्षण का प्रस्ताव पेश किया जाता है। इसके तहत हर क्षेत्र में महिलाओं के लिए तीस प्रतिशत या उससे ज़्यादा सीटें आरक्षित रहेंगी। जब पुरुष और महिला एक सतह पर आ जाएँगे तो आरक्षण समाप्त कर दिया जाएगा। सवाल यह है कि इसके प्रभाव परिवार और समाज पर क्या पड़ेंगे?

उत्तर :

यदि आरक्षण के द्वारा औरतों की समस्याएँ हल हों और उन्हें शैक्षणिक, आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से ऊपर उठाया जा सकता है तो इसका विरोध नहीं किया जा सकता। लेकिन इसके कुछ दूसरे पहलू भी ध्यान देने योग्य हैं। यहाँ केवल नौकरी के पहलू से दो-एक बातों की ओर इशारा किया जा रहा है।

आपके यहाँ मर्दों के रोज़गार की स्थिति कुछ ज़्यादा सन्तोषजनक नहीं है। रोज़गार की तलाश में लोग लगातार विदेश जा रहे हैं। यदि आप तीस प्रतिशत या पचास प्रतिशत नौकरियाँ औरतों के लिए आरक्षित कर देंगे तो उतनी ही संख्या में काम के योग्य मर्द और अधिक बेरोज़गार हो जाएँगे। यदि इस समय चालीस प्रतिशत मर्द बेरोज़गार हैं तो उस समय उनकी संख्या सत्तर प्रतिशत हो जाएगी। आप उनके लिए इतने नए अवसर उपलब्ध नहीं करा सकते कि यह संख्या कम हो जाए।

आरक्षण-व्यवस्था का एक दोष यह भी है कि इसमें कई बार योग्य व्यक्ति को नज़रअन्दाज़ करके कम योग्यतावाले व्यक्ति के द्वारा कोटा पूरा करना पड़ता है। यह राज्य के लिए लाभदायक नहीं होगा।

इस्लामी रियासत की ज़िम्मेदारी है कि वह आर्थिक दृष्टि से ज़रूरतमन्द औरतों को रोज़गार उपलब्ध कराए, परन्तु यदि वह चालीस या पचास प्रतिशत नौकरियाँ उनके लिए आरक्षित कर दे तो परिवार की व्यवस्था पर नकारात्मक प्रभाव यक़ीनन पड़ेगा। उसे सही रूप में बचाए रखना सम्भव न होगा।

बहरहाल यह एक कठिन समस्या है। I.P.S. (Institute of Policy Studies) जैसी संस्थाओं को इसके विभिन्न पहलुओं पर विचार करके कोई रणनीति मुल्क व मिल्लत के सामने पेश करनी चाहिए।

कुछ फ़िक़ही आदेश

औरत का मस्जिद में जमाअत के साथ नमाज़ पढ़ना

दो तीन वर्ष पूर्व मस्जिदों में औरतों की नमाज़ से सम्बन्धित एक लम्बी बहस अख़बारों में चली थी। अब भी यह विषय कभी-कभी छिड़ जाता है। कुछ लोगों की ओर से जब यह बात कही गई कि औरतें नमाज़ के लिए मस्जिदों में जा सकती हैं तो इसे मीडिया में इस प्रकार पेश किया गया कि यह एक प्रगतिशील विचार है और मुसलमानों की मानसिकता में बदलाव आ रहा है। उसी ज़माने में एक उर्दू अख़बार ने कुछ प्रश्न किए थे। ये प्रश्न और उनके उत्तर किसी हद तक संशोधन के बाद यहाँ पेश किए जा रहे हैं।

प्रश्न :

1. औरतों का मस्जिद में आकर जमाअत के साथ नमाज़ अदा करना जाइज़ है या नाजाइज़?
2. अन्य मुस्लिम देशों में (जहाँ इस्लामी क़ानून लागू हैं) औरतें मस्जिद में नमाज़ अदा करती हैं तो भारत में इसपर रोक क्यों?
3. इस्लाम में बहुत-से कामों की इजाज़त नापसन्दीदगी अथवा कठोर शर्तों के साथ दी गई है (तीन तलाक़ या एक पत्नी के रहते दूसरी शादी करना आदि) परन्तु उन्हें आज भी नाजाइज़ या हराम क़रार नहीं दिया जाता तो फिर औरतों के मस्जिद में जमाअत के साथ नमाज़ पढ़ने को परदा की शर्तों की पाबन्दी की नसीहत के बजाय नाजाइज़ कहना कैसे दुरुस्त है?
4. औरतों पर मस्जिद में नमाज़ पढ़ने की पाबन्दी को हज़रत उमर (रज़ि॰) से जोड़ा जा रहा है, जबकि हदीस की पुस्तक सहीह मुस्लिम

में हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-उमर (रज़ि॰) से यह प्रसंग उद्धृत है कि हज़रत उमर (रज़ि॰) के बेटे हज़रत बिलाल (रज़ि॰) ने जब यह कहा था कि "अल्लाह की क़सम! हम अपनी औरतों को मस्जिद में जाने की इजाज़त हरगिज़ नहीं देंगे" तो यह सुनकर हज़रत उमर (रज़ि॰) हज़रत बिलाल (रज़ि॰) पर बहुत नाराज़ हुए थे और कहा था कि मैं तो अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) का फ़रमान बयान करता हूँ कि "उन्हें इजाज़त दो, और तू कहता है कि हम इजाज़त नहीं देंगे।" इस प्रसंग की रौशनी में औरतों के मस्जिद में नमाज़ के लिए आने पर पाबन्दी को स्पष्ट करें।

5. ईद, बक़रीद और जुमा की नमाज़ें जो जमाअत के बिना अदा नहीं होतीं, क्या औरतों को उनसे अलग रखने का कोई हुक्म क़ुरआन व हदीस में कहीं मौजूद है? यदि नहीं तो फिर स्पष्ट करें कि वे मस्जिद में आकर जमाअत में शामिल हुए बिना नमाज़ कैसे अदा कर सकती हैं? यदि परदा और अलग सफ़ों की उचित व्यवस्था न होने के कारण वे उन नमाज़ों को अदा करने से वंचित रहती हैं तो क्या इसका गुनाह मर्दों के सिर नहीं है, जो उन नमाज़ों के लिए औरतों के मस्जिद में आने की उचित व्यवस्था करने के स्थान पर उनका मस्जिद में आना ही वर्जित क़रार देते हैं?

उत्तर :

आपने जिस क्रम से प्रश्न किए हैं उसी क्रम से उत्तर देने में मूल मुद्दे को थोड़ा स्पष्ट करने की कोशिश करूँगा।

सबसे पहली बात तो यह है कि यह बहस मीडिया में इस प्रकार की जा रही है जैसे इस्लाम के उलमा आज एक नई परिस्थिति से दोचार हैं। कुछ उलमा ने हालात के दबाव में औरतों को उनका वह हक़ दिया है जो उन्हें प्राप्त नहीं था और कुछ विरोध कर रहे हैं। हालाँकि यह कोई नया मसला नहीं है। इस सिलसिले की हदीसें हदीस की प्रामाणिक पुस्तकों में हैं और फ़ुक़हा ने इसपर विस्तार से चर्चा भी की है। हज़रत

अब्दुल्लाह-बिन-उमर रज़ि॰ की रिवायत है कि अल्लाह के रसूल मुहम्मद (सल्ल॰) ने फ़रमाया—

اذا استأذنت امراة احدكم الى المسجد فلا يمنعها

"जब तुममें से किसी की पत्नी मस्जिद जाने की इजाज़त माँगे तो वह उसे मना न करे।" (हदीस : बुख़ारी किताबुन्-निकाह बाबु इस्तिअ-ज़ानिल-मरअति ज़ौजहा, फ़िल-ख़ुरूजि इलल-मस्जिद, मुस्लिम किताबुस-सलात, बाबु ख़ुरूजिन-निसाइ इलल-मसाजिद।)

हदीसों से इसका प्रमाण मिलता है कि अल्लाह के रसूल मुहम्मद (सल्ल॰) के मुबारक समय में औरतें मस्जिद जाया करती थीं। दूसरी ओर हदीसों ही से यह भी मालूम होता है कि औरतों का मस्जिद में नमाज़ पढ़ने से घर में नमाज़ पढ़ना बेहतर और श्रेष्ठ है। अतः हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-उमर (रज़ि॰) ही की हदीस है—

لاتمنعوا نساء كم المساجد وبيوتهن خيرلهن

"अपनी औरतों को मस्जिद में जाने से मना मत करो, लेकिन उनके घर उनके लिए बेहतर हैं।"
(हदीस : अबू-दाऊद किताबुस्-सलात, बाबु-माजाअ-फ़ी ख़ुरूजिन-निसाई इलल-मस्जिद।)

रिवायतों में यहाँ तक आता है कि औरत के लिए बेहतर और श्रेष्ठ है कि अपने घर में भी किसी कोठरी में नमाज़ अदा करे।
(हदीसः अबू-दाऊद किताबुस्-सलात, बाबुत-तशदीद-फ़ी ज़ालिक।)

कुछ रिवायतों से मालूम होता है कि हज़रत उमर (रज़ि॰) ने औरतों के मस्जिद जाने पर पाबन्दी लगा दी थी। इसपर आपने लिखा है कि यह रिवायत सही नहीं हो सकती, इसलिए कि इसके मुक़ाबले सही रिवायत यह है कि हज़रत उमर (रज़ि॰) अपने बेटे की इस बात पर बड़े नाराज़ हुए थे कि वे औरतों के मस्जिद जाने पर पाबन्दी लगाना चाहते

थे। यहाँ आपसे एक चूक हो गई है। वह यह कि आपने जिस प्रसंग का उल्लेख किया है वह हज़रत उमर (रज़ि॰) का नहीं, बल्कि अब्दुल्लाह-बिन-उमर (रज़ि॰) का है। प्रसंग इस प्रकार है कि हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-उमर (रज़ि॰) ने जब यह हदीस सुनाई कि औरतों का मस्जिद में हिस्सा है, उससे उन्हें मना न करो तो उनके पुत्र हज़रत बिलाल (रज़ि॰) ने कहा, "ख़ुदा की क़सम हम तो ज़रूर मना करेंगे।" इसपर हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-उमर (रज़ि॰) ख़फ़ा हो गए कि मैं तुम्हें अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) का इर्शाद (कथन) सुना रहा हूँ और तुम उसके मुक़ाबले में अपनी बात पर आग्रह कर रहे हो।

यह पूरा विवरण सहीह मुस्लिम में है। देखें सहीह मुस्लिम किताबुस्-सलात, बाबु-खुरूजिन-निसाई इलल मसाजिद।

वास्तव में हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-उमर (रज़ि॰) को अपने बेटे का यह रवैया पसन्द नहीं आया था। वरना वह भी जानते थे कि औरत को मस्जिद जाने की इजाज़त देने अथवा न देने का आदमी को अधिकार प्राप्त है।

फ़ुक़हा ने हालात और ज़माने के बिगाड़ की वजह से औरतों को मस्जिद जाने से मना किया है। इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि औरतें पाँचों वक़्त मर्दों के साथ मस्जिद आने-जाने लगें तो मौजूदा बिगड़े हुए हालात में बहुत-सी अप्रिय घटनाएँ पेश आ सकती हैं। फ़ुक़हा ने यह भी लिखा है कि यदि औरत उम्र-दराज़ हो, बन-सँवरकर न निकले और ऐसे समय न हों कि जब बुरे और दुराचारी लोग घूमते-फिरते हों तो वे मस्जिद जा सकती है।

स्पष्ट है कि इसका फ़ैसला हालात ही को देखते हुए किया जा सकता है। यदि किसी जगह औरतें सामान्य रूप से मस्जिद जाती हों और वहाँ किसी नैतिक गिरावटों की आशंका भी न हो तो मेरी राय यह है कि इसकी इजाज़त होनी चाहिए।

अल्लाह के रसूल मुहम्मद (सल्ल॰) के दौर में जुमा की नमाज़ के लिए औरतें मस्जिद जाया करती थीं। ईद-बक़रीद की नमाज़ में भी उनकी उपस्थिति का प्रमाण मिलता है। बल्कि इसके लिए उन्हें प्रेरित किया गया है। इसलिए जहाँ किसी ख़तरे की आशंका न हो, औरतें नमाज़ों में सम्मिलित हो सकती हैं। आज भी कई स्थानों पर इसकी व्यवस्था है। इस आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि दीनी ज़रूरतों के अनुसार औरतें उपदेश और नसीहत की वैसी सभाओं में जहाँ उनके लिए अलग से व्यवस्था हो, जा सकती हैं। आख़िर में यह गुज़ारिश है कि मस्जिद में जमाअत के साथ नमाज़ अदा करना औरत के लिए न फ़र्ज़ है और न वाजिब (अनिवार्य), और न इसके मुस्तहब (पसन्दीदा) होने को साबित किया जा सकता है। इस प्रकार के मसले पर ज़ोर देना, फ़िक़ही मतभेद को उभारना और उसके लिए आन्दोलन छेड़ना किसी प्रकार भी उचित नहीं है। यह दीन व मिल्लत की कोई लाभदायक ख़िदमत नहीं है।

इस्लामी रियासत में औरत का नेतृत्व संभालना

प्रश्न :

एक मोहतरमा अपने पत्र में लिखती हैं :

मैं औरत के नेतृत्व का समर्थन (Favour) नहीं करती, इसलिए कि शरीअत की सीमाओं की पाबन्दी करते हुए वह नेतृत्व का कर्त्तव्य पूरा नहीं कर सकती। शारीरिक रूप से (Physically) भी यह उसके लिए नहीं है।

हदीस और क़ुरआन से यह स्पष्ट है कि औरत का नेतृत्व संभालना नापन्सदीदा है, परन्तु क्या इसे हर हालत में हराम या नाजाइज़ की कोटि (Category) में रखना ठीक होगा?

कुछ उलमा का विचार है कि आपातस्थिति (Emergency) में औरत का नेतृत्व स्वीकार किया जा सकता है। सवाल यह है कि क्या इस प्रकार के हालात में उसे नेतृत्व सौंपना जाइज़ है या हराम और नाजाइज़ है? यदि जाइज़ है तो Emergency हालात कौन-से होंगे और कौन यह सुनिश्चित करेगा कि आपातस्थिति उत्पन्न हो गई है?

आपने अपनी किताब 'औरत और इस्लामी समाज' में लिखा है कि इस मामले में उलमा का मतैक्य है, कृपया इस मतैक्य की Details बताएँ ताकि उम्मत के सामने सही पोज़ीशन आ सके।

उत्तर :

औरत रियासत की नेता, मुखिया या शासनाध्यक्ष हो सकती है या नहीं इसपर इधर जो बहसें हुई हैं उनमें से कुछ मेरी नज़र से भी गुज़री

हैं, लेकिन मेरी राय यही है कि इस्लाम ने इस पद के लिए जो शर्तें रखी हैं, वह उसमें नहीं पाई जाती हैं और जिन सीमाओं का उसे पाबन्द बनाया गया है उनकी पाबन्द रहकर नेतृत्व का हक़ अदा करना उसके लिए सम्भव नहीं है।

आपने लिखा है कि हदीस और क़ुरआन की रौशनी में औरत का नेतृत्व 'नापसन्दीदा' है, मेरे निकट नापसन्दीदा नहीं नाजाइज़ है। वैसे आपके पत्र से पता चलता है कि आप भी इसे स्वीकार करती हैं।

अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) को जब पता चला कि फ़ारस के लोगों ने किसरा की बेटी को सल्तनत की गद्दी पर बैठाया है तो आप (सल्ल॰) ने फ़रमाया, لن يفلح قوم ولّوا امرهم امراة "वह क़ौम हरगिज़ कामयाब नहीं हो सकती जिसने औरत को अपना सरबराह (नेता) बनाया," (हदीस : बुख़ारी, किताबुल-मग़ाज़ी, तिर्मिज़ी, नसई व अहमद)। इस कथन से उम्मत के उलमा और फ़ुक़हा ने यही समझा कि औरत को इस पद पर बैठाना नाजाइज़ है और बर्बादी को आमन्त्रण देने जैसा है।

कभी-कभी कहा जाता है कि इस कथन का सम्बन्ध विशेषकर फ़ारस से और उसी काल से है। यह कोई स्थायी आदेश नहीं है। हालाँकि आप (सल्ल॰) ने एक आम क़ानून बयान फ़रमाया है। इस बात का न तो कोई इशारा है और न किसी ने आज तक यह समझा है कि यह सामाजिक एवं अस्थायी बात है, बल्कि इसे एक स्थायी हुक्म ही के रूप में स्वीकार किया गया है। इसी लिए किसी भी दौर में औरत का किसी इस्लामी रियासत का सरबराह (शासनाध्यक्ष) होना जाइज़ नहीं है।

आपात स्थिति व्यक्ति के जीवन में भी आ सकती है और किसी समूह और समाज को भी इसका सामना करना पड़ सकता है। जहाँ तक व्यक्ति का सवाल है, क़ुरआन ने इस स्थिति में कुछ छूट दी है। उदाहरणतः आदमी को हलाल एवं पवित्र चीज़ें खाने का आदेश है, लेकिन उसके जीवन का प्रश्न हो और कोई हलाल चीज़ पहुँच से बाहर

हो तो हराम और नाजाइज़ चीज़ भी इस्तेमाल करके वह अपनी जान बचा सकता है, बल्कि कुछ फ़ुक़हा ने इस स्थिति में उसका जान बचाना ज़रूरी बताया है, अन्यथा वह गुनहगार होगा। उन्होंने व्यक्ति की आपात स्थिति और उनके आदेशों पर तो विस्तार से चर्चा की है, परन्तु इस तरह की विस्तृत व्याख्या हमें समूह और समाज की आपात स्थिति के सम्बन्ध में नहीं मिलती। परन्तु कुछ अन्य दलीलों से मार्गदर्शन हो सकता है। उदाहरणतः शरीअत का आदेश है कि मुसलमानों का इमाम (जो नमाज़ का इमाम भी हो सकता है और सम्पूर्ण मुस्लिम जगत् का नेता भी) अल्लाह से डर रखनेवाला और धर्मपरायण हो, परन्तु मजबूरी में और बिगाड़ और विवाद से बचने के लिए फ़ासिक़ और फ़ाजिर (झूठे एवं कपटी) की इमामत (नेतृत्व) भी सहन की जाती है। यह एक मजबूरी है, इससे मूल क़ानून बदल नहीं सकता।

ठीक उसी प्रकार औरत का नेतृत्व भी स्वीकार किया जा सकता है जब कि इसके सिवा कोई उपाय न हो और मुल्क व मिल्लत को उसके विरोध से किसी संगीन ख़तरे की आशंका हो। अब इसका फ़ैसला करना हर मुल्क का अपना काम है।

यदि किसी इस्लामी मुल्क में औरत सत्ता में आ जाए तो शान्तिपूर्ण तरीक़े से उसे बदलने की कोशिश होनी चाहिए। इसके लिए कोई ऐसा तरीक़ा अपनाना सही नहीं होगा जिससे बिगाड़ या विवाद फूट पड़े और रियासत को नुक़सान पहुँचे।

अब रहा यह सवाल कि इस सम्बन्ध में उम्मत के 'इज्मा' (मतैक्य) की Details बताएँ, तो अर्ज़ है कि मैंने अपनी किताब में अल्लामा सादुद्दीन तफ़्ताज़ानी, अल्लामा इब्ने-आबिदीन और क़ाज़ी शौकानी आदि के हवालों से लिखा है कि औरत की इमामत जाइज़ नहीं है। यह भी स्पष्ट किया है कि इमाम इब्ने-हज़्म के कथनानुसार इस विषय पर उम्मत में इज्मा (मतैक्य) है। एक और लेख में शाह

अब्दुल-हक़ मुहद्दिस देहलवी, हज़रत शाह वलीयुल्लाह, इब्ने-अरबी मालिकी और इब्ने-क़ुदामा हम्बली के हवाले प्रस्तुत किए हैं।[1] इन उलमा का अलग-अलग मसलकों से सम्बन्ध है। इसके बाद और अधिक स्पष्टीकरण की ज़रूरत नहीं महसूस होती। ख़ास बात यह है कि इसके विरोध में कोई प्रामाणिक राय मौजूद नहीं है।

1. देखें, माहनामा ज़िन्दगी-ए-नौ, अप्रैल 1989 ई.।

निक़ाह में सरपरस्त या अभिभावक की शर्त और उसका अधिकार

प्रश्न :

निकाह के लिए वली (लड़की के सरपरस्त या अभिभावक) की शर्त और उसके अधिकार से सम्बन्धित कुछ प्रश्न प्रस्तुत हैं, इनके जवाब अपेक्षित हैं।

1. क्या मुसलमान औरत जो विवेकशील और वयस्क है उसका सरपरस्त किसी ऐसे व्यक्ति से उसका निकाह कर सकता है जिसे वह पसन्द नहीं करती? क्या ऐसी लड़की को उसकी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ निकाह पर मजबूर करने का सरपरस्त या वली को अधिकार प्राप्त है?
2. क्या किसी मुसलमान औरत के लिए, जो विवेकशील और वयस्क है, इस बात की इजाज़त है कि वह अपनी मरज़ी से निकाह कर ले, चाहे सरपरस्त इससे सहमत हो या न हो? बाप अथवा सरपरस्त की मरज़ी के ख़िलाफ़ जो निकाह हो उसका क्या हुक्म है?
3. क्या किसी नाबालिग़ लड़की के बाप को इसका हक़ हासिल है कि उसके वयस्क होने से पहले ही उसका निकाह कर दे? इस निकाह की शरीअत के अनुसार क्या हैसियत है? क्या वयस्क होने के बाद निकाह को बाक़ी रखना लड़की के लिए ज़रूरी है?
4. वली या सरपरस्त की क़ानूनी हैसियत क्या है?

उपरोक्त प्रश्न बहुत ही महत्त्वपूर्ण सामाजिक प्रश्न हैं, इनमें शरीअत का दृष्टिकोण विस्तार से आना चाहिए।

उत्तर :

नीचे आपके प्रश्नों के जवाब में शरीअत का दृष्टिकोण स्पष्ट करने की कोशिश की जा रही है।

1. बुख़ारी, मुस्लिम और अन्य हदीस की किताबों में हज़रत अबू-हुरैरा (रज़ि॰) की रिवायत है कि अल्लाह के रसूल मुहम्मद (सल्ल॰) ने फ़रमाया—

لا تنكح الأيّم حتى تستأمر ولا تنكح البكر حتى تستأذن قالوا يا رسول الله كيف اذنها قال ان تسكت۔

'अय्यिम' (विधवा या तलाक़शुदा) का निकाह उस वक़्त तक नहीं होगा, जब तक कि उससे मशविरा न कर लिया जाए और दोशीज़ा (अविवाहित लड़की) का निकाह उस वक़्त होगा जबकि उससे इजाज़त हासिल कर ली जाए। पूछा गया कि दोशीज़ा इजाज़त कैसे देगी? फ़रमाया कि वह सुकूत इख़्तियार कर ले अथवा चुप रह जाए (तो यह उसकी ओर से इजाज़त है)।" (हदीस : बुख़ारी, किताबुन्-निकाह बाबु ला यन्किहुल-अबु-वग़ैरुहु अल-बिक्र वस्-सय्यि-ब इल्ला बिरिज़ाहा; मुस्लिम किताबुन्-निकाह, बाबु इस्तीज़ानिस्-सय्यिबि फ़िन्-निकाहि बिन-नुत्क़ि वल बिक्रि बिस्-सुकूति।)

हदीस में 'अय्यिम' का शब्द आया है। इसका अर्थ है, वह औरत जिसका पति न हो चाहे वह बाकिरह (कुँवारी) हो या ग़ैर-बाकिरह (यानी कुँवारी न हो)। यह उस मर्द के लिए भी बोला जाता है जिसकी पत्नी न हो। (अल्लामा मज्दुद्दीन फ़ीरोज़ाबादी, अल-क़ामूसुल मुहीत) यहाँ यह शब्द ग़ैर-बाकिरह के लिए इस्तेमाल हुआ है। इसलिए कि एक अन्य हदीस में इसके स्थान पर 'सय्यिब' शब्द आया है। अल्लाह के रसूल

(सल्ल॰) का इर्शाद हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-अब्बास (रज़ि॰) नक़ल फ़रमाते हैं—

الثيب احق بنفسها من وليها والبكر تستأمر واذنها سكوتها

"सय्यिब' अपने नफ़्स (निकाह) के मामले में अपने वली से ज़्यादा हक़ रखती है और बाकिरह की राय ली जाएगी और उसकी ख़ामोशी उसकी इजाज़त होगी।" (हदीस : मुस्लिम)

इन हदीसों में 'अय्यिम' और 'सय्यिब' के शब्द ग़ैर-बाकिरह के लिए आए हैं और 'बिकर' का अर्थ दोशीज़ा (अविवाहिता) और बाकिरह (कुँआरी) है। इन हदीसों में इस बात का उल्लेख है कि ग़ैर-बाकिरह को अपने निकाह के बारे में फ़ैसला करने का हक़ उसके वली से ज़्यादा है। उसका निकाह उसका वली तभी कर सकता है जबकि उसकी रज़ामन्दी हो।

उलमा इसपर एकमत हैं कि 'सय्यिब' या ग़ैर-बाकिरह का निकाह उसकी मर्ज़ी से होगा, वली उसे मजबूर नहीं कर सकता। लेकिन बाकिरह और दोशीज़ा (अविवाहिता) के सम्बन्ध में इमाम शाफ़ई (रह॰) और अहमद (रह॰) आदि की राय है कि उससे इजाज़त हासिल करना पसन्दीदा तो है परन्तु वली या सरपरस्त में बाप और दादा को उससे स्नेह एवं प्रेम के कारण यह हक़ हासिल है कि उसकी इजाज़त के बिना भी उसका निकाह कर दें।

इस मामले में इमाम अबू-हनीफ़ा (रह॰), इमाम औज़ाई (रह॰) और कुछ अन्य विद्वानों का दृष्टिकोण यह है कि वयस्क युवती का निकाह चाहे वह 'सय्यिब' हो या बाकिरह उसकी मर्ज़ी से ही होगा। 'सय्यिब' की ही भाँति बाकिरह को, जो वयस्क है, मजबूर नहीं किया जा सकता। फ़िक़ह की किताब 'हिदाया' में है—

ولا يجوز للولى اجبار البكر البالغة على النكاح

"वली के लिए जाइज़ नहीं है कि दोशीजा को, जो वयस्क

है, निकाह पर मजबूर करे।"

(हिदाया मअ फ़तहिल क़दीर 3/251)

ऊपर जो हदीसें गुज़रीं उनकी और कुछ अन्य समान भावार्थ की हदीसों के आधार पर फ़ुक़हा का इस बात पर मतैक्य है कि जो औरत 'सय्यिब' है उसका निकाह उसका वली उसी वक़्त कर सकता है, जबकि वह स्पष्ट शब्दों में अपनी सहमति प्रकट करे। अल्लामा नववी (रह०) कहते हैं—

واما الثيب فلا بد فيها من النطق بلا خلاف سواء كان الولی ابا او غيره

"जहाँ तक 'सय्यिब' का सम्बन्ध है, उसका अपनी ज़बान से अपनी सहमति प्रकट करना ज़रूरी है (उसका चुप रहना काफ़ी नहीं)। वली चाहे बाप हो या कोई अन्य, इसमें कोई मतभेद नहीं।" (नववी शरह मुस्लिम, जिल्द-5, जुज़-9, पृष्ठ-175)

बाकिरह लाज-शर्म के कारण स्पष्ट रूप से अपनी सहमति प्रकट नहीं कर सकती, इसलिए हदीस में कहा गया है कि فان سكتت فقد رضيت यानि यदि वह चुप रह जाए तो इसका अर्थ है कि वह निकाह के प्रस्ताव से सहमत है। सुकूत (चुप रह जाने) के सम्बन्ध में एक राय यह है कि यह बात साफ़ मालूम होनी चाहिए कि सुकूत रज़ामन्दी की दलील है। लेकिन जैसा कि फ़ुक़हा ने लिखा है कि उसके हाव-भाव (जिसे आजकल 'बॉडी-लैंग्वेज' कहा जाता है) से पता चल जाता है कि सुकूत (चुप्पी) में उसकी सहमति पाई जाती है या नहीं? यदि वह मुस्करा दे या कोई तोहफ़ा क़बूल कर ले तो समझा जाएगा कि उसे प्रस्ताव स्वीकार है, परन्तु यदि पूछने पर रोने लगे या चेहरे से अप्रसन्नता झलके तो उसे असहमति समझा जाएगा। बहरहाल उसके अन्दर सहमति न पाई जाए या वह इनकार कर दे तो हनफ़ी मसलक के अनुसार उसे मजबूर नहीं किया जा सकता। इसकी पुष्टि हज़रत अबू-हुरैरा (रज़ि०) की रिवायत से

भी होती है। आप (सल्ल॰) ने फ़रमाया—

اليتيمة تستأمر في نفسها فان صمتت فهو اذنها وان ابت فلا جواز عليها

"यतीम लड़की (जो वयस्क हो चुकी है) उसकी ज़ात (निज) के मामले में (यानी निकाह के मामले में) राय ली जाएगी। यदि वह ख़ामोश हो जाए तो यह उसकी इजाज़त होगी, यदि इनकार कर दे तो उसपर किसी का कोई इख़्तियार न होगा।"

(हदीस : मिश्कातुल-मसाबीह, किताबुन-निकाह बाबुल-वलीयि फ़िनू-निकाहि व इस्तीज़ानिल मरअ ब-हवाला, तिर्मिज़ी अबु-दाऊद, नसई।)

यहाँ यतीम से मुराद वह लड़की है जो यतीम है और अब वयस्क है। इसलिए कि नाबालिग के आदेश दूसरे हैं। उससे इजाज़त की ज़रूरत नहीं है। (मुल्ला अली क़ारी, मिरक़ातुल मफ़ातीह 6/298)

इजाज़त हासिल करने के लिए ज़रूरी है कि जिस व्यक्ति से निकाह का प्रस्ताव हो उसकी दीनी (धार्मिक), अख़लाक़ी (नैतिक), सामाजिक एवं आर्थिक हैसियत के बारे में ठीक-ठीक मालूमात उसे बताई जाएँ ताकि वह सोच-समझकर फ़ैसला कर सके।

हमारे समाज में शादी के मामले में प्रायः औरत की राय और विशेषकर दोशीज़ा की राय नहीं ली जाती। वली अपनी पसन्द से उसका निकाह कर देते हैं, यह एक ग़लत तरीक़ा है। हदीसों की रौशनी में इसका ग़लत होना साबित है। इस्लाम ने औरत को जब निकाह का हक़ दिया है तो उसे इस हक़ से वंचित करना खुली ज़्यादती है।

2. अब दूसरे प्रश्न को लीजिए।

हज़रत अबू-मूसा अशअरी (रज़ि॰) की रिवायत है कि अल्लाह के रसूल मुहम्मद (सल्ल॰) ने फ़रमाया :

لا نکاح الا بولی

"निकाह वली ही के ज़रीए से होता है।"

(हदीस : मिश्कातुल-मसाबीह, किताबुन्-निकाह, बाबुल-वलीयि फ़िन-निकाहि व इस्तीज़ानिल मरअ ब-हवाला अहमद, तिर्मिज़ी, अबू-दाऊद, इब्ने-माजा और दारिमी।)

इस हदीस से इमाम शाफ़ई (रह॰) और इमाम अहमद (रह॰) ने यह दलील दी है कि वली के बिना औरत का निकाह नहीं हो सकता। इमाम मालिक (रह॰) फ़रमाते हैं कि पस्त तबक़े की कोई औरत तो अपना निकाह ख़ुद कर सकती है या निकाह के लिए किसी को वकील बना सकती है, लेकिन शरीफ़ औरत के लिए वली का होना ज़रूरी है। हनफ़ी मसलक का दृष्टिकोण यह है कि जो औरत विवेकशील एवं वयस्क है वह ख़ुद अपना निकाह कर सकती है और दूसरी औरत का निकाह करा भी सकती है। कारण यह कि वयस्क होने के बाद 'विलायत' (अभिभावकत्व) समाप्त हो जाती है। ولا تجبر البالغة البکر علی النکاح لانقطاع الولایۃ بالبلوغ (रद्-दुल-मुहतार अलद्-दुर्रिल मुख़्तार 4/159)

हनफ़ी मसलक की एक दलील यह है कि जब एक वयस्क औरत अपनी मर्ज़ी से ख़रीद-बिक्री, सदक़ा-ख़ैरात, हिबा (अपना माल किसी के नाम करना) और वसीयत जैसे आर्थिक कर्म कर सकती है तो यह फ़ैसला भी कर सकती है कि किस व्यक्ति से उसका निकाह हो, मह्र की राशि कितनी हो, नान-नफ़्क़ा (भरण-पोषण) का क्या रूप हो। इसमें सामान्यतः कोई रुकावट नहीं होनी चाहिए।

हनफ़ी मसलक में इस सम्बन्ध में एक उसूल यह बयान हुआ है कि जो व्यक्ति अपने माल (सम्पत्ति) का स्वतन्त्र स्वामी और उसके उपयोग का अधिकारी है वह अपने निज के बारे में भी फ़ैसला करने का हक़ रखता है।

(दुर्रे-मुख़्तार में है والاصل ان کل من تصرف فی مالہ تصرف فی نفسہ ومالا فلا

अद्-दुर्रुल-मुख़्तार मअ रद्-दिल-मुहतार 4/155)

शरीअत ने औरत को जो आज़ादी दी है, यही राय उससे मेल खाती है। 'निकाह वली ही के ज़रीए होता है' का मतलब उनके निकट यह नहीं है कि निकाह के लिए वली का होना अनिवार्य शर्त है और उसके बिना निकाह नहीं होगा। वास्तव में इसमें एक पसन्दीदा तरीक़े की ओर संकेत किया गया है, वह यह कि वली के ज़रीए निकाह हो। यह बात नापसन्दीदा है कि औरत ख़ुद निकाह कर ले। परन्तु इससे वयस्क लड़की के निकाह के हक़ का इनकार नहीं होता। वली के बिना भी निकाह हो जाएगा। इससे दोनों तरह की हदीसों में एकरूपता भी हो जाती है।

3. अवयस्क लड़की के निकाह का सुबूत क़ुरआन और हदीस से मिलता है। क़ुरआन में तलाक़शुदा के लिए इद्दत तीन माहवारी बयान हुई है (क़ुरआन, 2:227)। एक और जगह कहा गया है कि जिन औरतों की माहवारी बन्द हो चुकी है या जिनकी माहवारी शुरू ही नहीं हुई है उनकी इद्दत तीन माह है। (क़ुरआन, 65:4)

माहवारी वयस्क होने की पहचान है। आयत से स्पष्ट है कि वयस्क होने से पहले लड़की का निकाह हो सकता है अन्यथा तलाक़ और इद्दत के बयान की ज़रूरत न थी।

हदीस की किताबों में प्रामाणिक रिवायत मौजूद है कि हज़रत अबू-बक्र (रज़ि॰) ने हज़रत आइशा (रज़ि॰) का निकाह उनकी कम उम्री ही में अल्लाह के रसूल मुहम्मद (सल्ल॰) से किया था। (बुख़ारी, मनाक़िबुल अंसार बाबु तज़वीजिन्-नबीयि आइशा। मुस्लिम, किताबुन्-निकाह बाबु तज़्वीजिल-अबिल-बिक्रिस-सग़ीरा।)

इस बात पर उलमा का हमेशा मतैक्य रहा है कि लड़के या लड़की के वयस्क होने से पहले उनका बाप (वली), हालात का तक़ाज़ा हो तो, दोनों में से किसी को भी निकाह पर मजबूर कर सकता है। केवल,

इब्ने-शबरमा, अबू-बक्र-अल-असम और उसमान बत्ती की ओर से इस सम्बन्ध में विरोध उद्धृत है। उनके अनुसार अवयस्क लड़के और लड़की का निकाह जाइज़ नहीं है। (इब्ने-रुश्द बिदायतुल मुज्तहिद 4/210। इब्ने-शबरमा और उनके हमख़याल लागों की दलीलों के लिए देखें रद्-दुल-मुहतार पर मुहक़्क़िक़ का हाशिया 4/170।)

अव्यस्क लड़की के निकाह का हक़ वली को इसलिए दिया गया है कि कभी-कभी ऐसे हालात पेश आते हैं कि वली इसे ज़रूरी समझता है। जैसे बहुत ही उचित रिश्ते के छूट जाने का अन्देशा हो। वली की बीमारी अथवा आर्थिक तंगी भी इसका कारण बन्न सकती है। लड़की से वली के आत्मीय सम्बन्ध, प्रेम, निष्ठा और उसका हितैषी होने से यही उम्मीद की जाती है कि वह जो क़दम उठाएगा लड़की के लिए लाभप्रद होगा।

इमाम मालिक (रह०) कहते हैं कि लड़की के वली में यह हक़ केवल बाप को प्राप्त है कि वह नाबालिग़ लड़की का निकाह कर दे।

इमाम शाफ़ई (रह०) ने बाप ही के हुक्म में दादा को भी रखा है। उनके अनुसार वली में से बाप और दादा के अतिरिक्त किसी अन्य को नाबालिग़ लड़के के निकाह का हक़ हासिल नहीं है, इसके साथ शाफ़ई मसलक में यह भी कहा गया है कि पसन्दीदा बात यह है कि बाप-दादा भी उसी वक़्त उसकी शादी करें जब वह बालिग़ हो जाए और उससे इजाज़त ले ली जाए ताकि यह न हो कि अनिच्छा के साथ उसे इस रिश्ते को सहन करना पड़े। (इमाम नववी शरह मुस्लिम जिल्द-5, पृष्ठ-167)

इमाम मालिक (रह०), इमाम शाफ़ई (रह०) और कुछ अन्य फ़ुक़हा के निकट बालिग़ होने पर इस निकाह को ख़त्म करने का लड़की को हक़ हासिल नहीं होगा। इस मसले में इमाम अबू-हनीफ़ा (रह०) की राय यह है कि नाबालिग़ लड़की और लड़के का निकाह बाप-दादा कर दें तो बालिग़ होने के बाद उन्हें हक़ नहीं होगा। कारण यह कि उनकी

सूझ-बूझ, प्रेम और आत्मीयता शक और सन्देह से परे है। यह ऐसा ही है जैसे बालिग़ होने पर उनकी इजाज़त से वे उनका निकाह करें। हाँ, बाप-दादा के अतिरिक्त बाप के परिवार से कोई ऐसा व्यक्ति जो उनका वली है उनका निकाह कर दे तो बालिग़ होने पर उन्हें निकाह स्वीकार करने या न करने का हक़ बाक़ी रहेगा।

एक राय यह भी है कि यदि लड़की की उम्र बालिग़ होने से पहले इतनी हो चुकी है कि मामलों को समझती है और हालात से अवगत है, इसके बाद वह अपनी स्वीकृति देती है तो उसे बालिग़ होने पर इनकार का हक़ न होगा। मौजूदा हालात में उचित यही प्रतीत होता है कि नाबालिग़ के निकाह का हक़ केवल बाप-दादा तक सीमित हो जैसा कि इमाम शाफ़ई (रह०) की राय है, और इमाम मालिक (रह०) भी बाप-दादा की सीमा तक सहमत हैं। कहा जाता है कि 'वली' का शब्द आम है, इसलिए हर वली को यह हक़ हासिल रहेगा, यदि उसके इस क़दम से लड़के या लड़की को नुक़सान पहुँच रहा हो तो क़ाज़ी इस निकाह को ख़त्म कर देगा। यह बात उसूली तौर पर तो सही है लेकिन यह एक लम्बी और पेचीदा प्रक्रिया है। बालिग़ होने पर लड़के या लड़की के लिए यह साबित करना आसान नहीं है कि वली ने जो क़दम उठाया है वह ग़लत है और अब इसे वे ख़त्म करना चाहते हैं।

4. समाज में जो लोग अविवाहित हैं, क़ुरआन और हदीस में उनके वली को हिदायत दी गई है कि उनका निकाह कर दें और जो औरतें निकाह करना चाहें उन्हें इससे रोका न जाए। इससे वली की ज़िम्मेदारी और अधिकार का पता चलता है। दूसरी ओर इस बात का भी सुबूत है कि निकाह के मामले में औरत ख़ुद अधिकार रखती है और अपनी मर्ज़ी से निकाह कर सकती है। इस वजह से उलमा और फ़ुक़हा में इसको लेकर मतभेद रहा है और कभी-कभी एक ही आयत या हदीस से दोनों प्रकार की दलीलें दी जाती हैं। अल्लामा इब्ने-रुश्द दोनों पक्षों की दलीलें पेश करने के साथ यह भी कहते हैं कि इनसे कोई एक पहलू पूर्णतः

साबित नहीं होता। (विस्तृत विवरण के लिए देखें इब्ने-रुश्द, बिदायतुल मुज्तहिद 4/214-223)

पिछले पृष्ठों में इस विषय पर कुछ हदीसें और उनसे फ़ुक़हा ने जो दलीलें दी हैं, उनकी चर्चा की गई है। इमाम मालिक (रह॰) और इमाम शाफ़ई (रह॰) के निकट निकाह के लिए वली का होना शर्त है। इसके बिना निकाह नहीं हो सकता। अलबत्ता सय्यिब या ग़ैर-बाकिरह को वली मजबूर नहीं कर सकता। उसकी रज़ामन्दी ही से उसका निकाह हो सकता है। इमाम शाफ़ई के निकट 'सय्यिब' वह है जिसकी बिकारत (कौमार्य-झिल्ली) भंग हो गई हो, चाहे यह सही तरीक़े से निकाह द्वारा हुई हो या ग़लत तरीक़े से निकाह द्वारा, सन्देह में उसके साथ हमबिस्तरी हो गई हो या उसके साथ बलात्कार किया गया हो, बल्कि किसी भी स्वाभाविक अथवा अस्वाभाविक तरीक़े से, जैसे—उछलकूद, अप्राकृतिक कर्म या उम्र की अधिकता के कारण उसकी बिकारत ख़त्म हो जाए तो वह 'सय्यिब' है। इमाम नववी (रह॰) ने इसे शाफ़ई मसलक का प्रामाणिक कथन माना है। परन्तु यह बात कुछ उचित नहीं मालूम होती कि जिस औरत की जाइज़, नाजाइज़, स्वाभाविक, अस्वाभाविक किसी भी तरीक़े से कौमार्य-झिल्ली भंग हो जाए उसे 'सय्यिब' क़रार दिया जाए और यह कहा जाए कि उसकी शर्म-हया (लज्जा प्रवृत्ति) बाकिरह की तरह नहीं रही और वह स्पष्ट शब्दों में निकाह के प्रस्ताव को स्वीकार करेगी।

इमाम नववी (रह॰) कहते हैं कि हदीस में الايم احق بنفسها من وليها के शब्द आए हैं, जिनसे संकेत मिलता है कि 'सय्यिब' के निकाह में वली को भी बहरहाल अधिकार प्राप्त है। अलबत्ता उसे अपने बारे में फ़ैसले का हक़ वली से ज़्यादा है। इस वजह से यदि वली 'सय्यिब' का निकाह कुफ़ू (समकक्ष परिवार/समान हैसियत का लड़का) में करना चाहे और वह उसके लिए सहमत न हो तो उसे मजबूर नहीं किया जाएगा। इसके विपरीत यदि 'सय्यिब' किसी ऐसे व्यक्ति से जो उसका समकक्ष

(समान हैसियतवाला) है निकाह करना चाहे और वली तैयार न हो तो उसे मजबूर किया जाएगा कि वह विरोध न करे, इसके बाद भी वह अपनी ज़िद पर अड़ा रहे तो वली के स्थान पर क़ाज़ी निकाह करा देगा। (नववी शरह मुस्लिम, जिल्द-5, जुज़-9, पृष्ठ-174-175)

जहाँ तक बाकिरह[1] का सम्बन्ध है वली उसकी मर्ज़ी जानने की कोशिश करेगा लेकिन जैसा कि कहा गया कि वह इसका पाबन्द नहीं है।

इस मामले में शाफ़ई मसलक में कौमार्य-झिल्ली को जिस प्रकार आधार बनाया गया है उससे हनफ़ी मसलक में मतभेद है। हनफ़ी मसलक़ के अनुसार यदि किसी औरत की कौमार्य-झिल्ली उछल-कूद या माहवारी का ख़ून ज़्यादा जारी होने या चोट लगने या काफ़ी समय तक शादी न होने की वजह से चाक हो जाए या निकाह के बाद सहवास से पहले सम्बन्ध-विच्छेद हो जाए या व्यभिचारी हो जाए तो वह बाकिरह ही की कोटि में है। हाँ, यदि वह व्याभिचारिणी के रूप में मशहूर हो और उसपर हद लागू की गई हो (अर्थात् व्यभिचार की सज़ी दी गई हो) या ग़लत निकाह या धोके में उसके साथ सहवास हुआ हो तो वह 'सय्यिब' क़रार पाएगी। (रद्-दुल-मुहतार मअ दुर-रिल-मुख़्तार 4/166-167)

यह एक सन्तुलित एवं उचित दृष्टिकोण है। हनफ़ी मसलक के अनुसार औरत को अपने निकाह का अधिकार कौमार्य-झिल्ली के आधार

---

1. इस लेख में कई ऐसे इस्लामी पारिभाषिक शब्द आए हैं जिनमें सूक्ष्म अन्तर पाया जाता है। उन्हें ठीक से समझने के लिए कृपया यहाँ दिए गए उनके अर्थ को ध्यान में रखें।

अय्यिम	=	विधवा, तलाक़शुदा जो अक्षता हो अथवा न हो।
सय्यिब	=	खंडित कौमार्यवाली।
बाकिरह	=	कौमार्यवाली।
ग़ैर-बाकिरह	=	खंडित कौमार्यवाली।
कुफ़ू	=	ख़ानदान और हैसियत में समकक्ष

पर नहीं बल्कि वयस्कता के आधार पर प्राप्त होता है। जो औरत वयस्क है, चाहे वह बाकिरह हो या ग़ैर-बाकिरह, अपनी मर्ज़ी से निकाह कर सकती है। वली के माध्यम से निकाह होना ज़रूरी नहीं है।

'निकाह वली के ज़रीए से ही होगा' के सम्बन्ध में हनफ़ी मसलक में दो बातें कही गई हैं। एक यह कि यह हदीस उन रिवायतों की अपेक्षा कमज़ोर है जिनसे औरत के निकाह का अधिकार साबित होता है। दूसरे यह कि इसका मतलब यह नहीं है कि निकाह के लिए वली का होना अनिवार्य शर्त है, और उसके बिना निकाह नहीं हो सकता। इसमें कोई क़ानून नहीं बयान हुआ है बल्कि एक प्रशंसनीय व्यवहार की ओर संकेत किया गया है। यह बात नापसन्दीदा है बल्कि अमर्यादित एवं निर्लज्जतापूर्ण मानी जाती है कि औरत ख़ुद से निकाह कर ले। इससे वयस्क युवती के निकाह के अधिकार का खंडन नहीं होता।

इस हदीस को एक उसूल और क़ानून के रूप में स्वीकार कर लिया जाए तो भी दूसरी हदीसों की रौशनी में इसका सम्बन्ध अवयस्क लड़के अथवा लड़की से होगा जिसमें वली को अधिकार प्राप्त है, वली के बिना उसका निकाह नहीं हो सकता।

हनफ़ी फ़ुक़हा और अन्य विद्वानों के अनुसार वयस्क युवती यदि ग़ैर-कुफ़ू में निकाह करे तो वली को आपत्ति का अधिकार है। कारण यह कि इसका सम्बन्ध केवल लड़की से ही नहीं बल्कि उसके ख़ानदान से भी है। हाँ, यदि वली को आपत्ति न हो तो निकाह सही होगा। यदि आपत्ति हो तो निकाह सही न होगा और क़ाज़ी उसे समाप्त करा देगा। वली को आपत्ति का अधिकार उसी समय प्राप्त रहेगा जब तक कि औरत बच्चे को जन्म न दे या स्पष्ट रूप से गर्भावस्था का प्रमाण न मिले। इसके बाद यह अधिकार शेष नहीं रहेगा। कारण यह कि इसमें बच्चे की समस्या उत्पन्न हो जाएगी।

वली के ज़रिए निकाह

प्रश्न :

मुझसे एक साहब ने कुछ प्रश्न किए थे, चूँकि ये प्रश्न नए थे, मैंने कहा कि किसी आलिम से इनके उत्तर पूछकर बता सकूँगा। उन प्रश्नों के लिए आपको कष्ट दे रहा हूँ।

1. प्रश्नकर्ता की माँ और लड़का अमेरिका में लगभग दो वर्षों से अप्रवासी रूप में रह रहे हैं।
2. प्रश्नकर्ता की माँ यहाँ भारत आकर अपने भाई की लड़की से अपने लड़के की मंगनी करके वापस अमेरिका चली गईं।
3. इस समय लड़का अमेरिका में है। लड़के के निकाह के लिए लड़का और माँ भारत आकर निकाह करके बहू को अमेरिका ले जाना चाहते हैं, नियमानुसार लड़की के वीज़ा के लिए एक Sponser (प्रयोजक) की ज़रूरत होगी और सभी प्रक्रियाएँ पूरी होने में एक वर्ष का समय लगेगा। यानी शादी के बाद दूल्हा अमेरिका जाकर दुल्हन को Sponser करे तभी वीज़ा मिल सकता है।

यदि इस अवधि को संक्षिप्त करने के लिए दूल्हा अमेरिका में रहते हुए टेलीफ़ोन पर निकाह करके निकाहनामा प्राप्त कर ले और दुल्हन के अमेरिका जाने पर पुनः शरीअत के अनुसार निकाह कर ले, तो इस तरह से फ़ोन पर किया हुआ निकाह जाइज़ है या नहीं। यदि नहीं है तो इस तरह के निकाह के माध्यम से अमेरिका जाकर पुनः शरीअत के अनुसार निकाह कर सकते हैं या नहीं?

उत्तरः

आपके प्रश्न का सरल समाधान यह है कि लड़की का वली उसकी मर्ज़ी मालूम करने के बाद लड़के को एक ख़त के ज़रीए यह सूचना भेज

दे कि मैंने अपनी लड़की का निकाह इतने महर के साथ तुमसे कर दिया है। इस ख़त को लड़का कुछ लोगों के सामने पढ़कर सुनाए और कहे कि मैंने इस लड़की को अपने निकाह में प्रस्तावित महर के साथ ले लिया है तो निकाह हो जाएगा। कुछ लोगों के सामने सुनाना इसलिए ज़रूरी है ताकि निकाह के गवाह हों। दो मर्द या एक मर्द और दो औरतें हों तो भी काफ़ी है। इसके बाद वह क़ानूनी कार्रवाई हो सकती है जिसका आपने उल्लेख किया है। (अल्लाह बेहतर जानता है।)

कुफ़ू का मसला

प्रश्न :

शादी-ब्याह के मामले में कुफ़ू[1] का मसला हमेशा रहा है। शायद हमारे फ़ुक़हा के यहाँ इसपर बड़ा ज़ोर है। अब इसपर यह बहस छिड़ गई है कि इसकी कोई शरई हैसियत है या नहीं। कृपया स्पष्ट करें कि फ़ुक़हा का दृष्टिकोण वास्तव में क्या है? इस मसले में हम आपकी राय भी जानना चाहते हैं।

उत्तर :

इस मसले पर संक्षेप में परन्तु संतोषजनक चर्चा की कोशिश करूँगा।

कुफ़ू का सवाल औरत के लिए पैदा होता है, मर्द के सम्बन्ध में सबका मतैक्य है कि वह अपने से कम हैसियत की औरत से निकाह कर सकता है। दूसरी ओर ज़्यादातर फ़ुक़हा के अनुसार औरत का निकाह उसकी हैसियत या उससे ज़्यादा हैसियतवाले मर्द से होना चाहिए अन्यथा वह इसे अपना अपमान महसूस करेगी और दाम्पत्य सम्बन्ध पर इसका बुरा प्रभाव पड़ेगा।

हनफ़ी मसलक में कहा गया है कि कुफ़ू का आधार पाँच चीज़ों पर है। वे हैं, नस्ल, आज़ादी, दीनदारी (ईशपरायणता), माल-दौलत और उद्योग-धन्धा।

नस्ल के सिलसिले में कहा जाता है कि क़ुरैश और ग़ैर-क़ुरैश, अरब और ग़ैर-अरब एक-दूसरे के बराबर नहीं हैं। इसलिए एक क़ुरैशी औरत का कुफ़ू (समकक्ष) ग़ैर-क़ुरैशी मर्द नहीं है। इसी प्रकार जो औरत

---

1. ख़ानदान, हैसियत और कुछ अन्य चीज़ों में लड़का-लड़की का समकक्ष होना।

अरब से सम्बन्ध रखती है, ग़ैर-अरब उसका कुफ़ू (समकक्ष) नहीं है।

जहाँ तक आज़ादी और ग़ुलामी का सवाल है, उलमा इसपर एकमत हैं कि यदि कोई बाँदी आज़ाद हो जाए और उसका पति ग़ुलाम हो तो उसे सम्बन्ध-विच्छेद का हक़ होगा, वह चाहे तो ग़ुलाम पति से उसका निकाह ख़त्म हो जाएगा।

(मुल्ला अली क़ारी, मिरक़ातुल मफ़ातीह 6/252)

इसकी वजह यह है कि जो ग़ुलाम है वह आज़ाद औरत का कुफ़ू (समकक्ष) नहीं है।

हनफ़ी मसलक में कहा गया है कि जो व्यक्ति ख़ानदानी रूप से आज़ाद चला आ रहा है उसका कुफ़ू वह व्यक्ति नहीं है जिसे या जिसके बाप को ग़ुलामी से आज़ादी मिली है।

दीनदारी के मामले में इस बात पर सबकी सहमति है कि कोई बेदीन (धर्म-विमुख) और फ़ासिक़ व फ़ाजिर (कपटी और झूठा मुसलमान) व्यक्ति दीनदार ख़ानदान की औरत का कुफ़ू (समकक्ष) नहीं है।

माल-दौलत के सम्बन्ध में कहा जाता है कि आर्थिक दृष्टि से कमज़ोर व्यक्ति दौलतमन्द औरत का कुफ़ू (समकक्ष) नहीं है।

समाज में कुछ पेशों को उच्च श्रेणी का और कुछ को निम्न श्रेणी का समझा जाता रहा है। इस आधार पर वे व्यक्ति और परिवार जिन्होंने उच्च श्रेणी के पेशे किए या जिनको ये प्राप्त हुए उनको श्रेष्ठ क़रार दिया गया और उन व्यक्तियों को उनका कुफ़ू (समकक्ष) नहीं समझा गया जिनके पास निम्न श्रेणी के पेशे थे। इसकी विस्तृत व्याख्याएँ की गई हैं कि किस पेशे को किस पेशे पर श्रेष्ठता प्राप्त है और किन पेशों के बीच कुफ़ू (समकक्षता) है और किन पेशों के बीच नहीं है।

(विस्तृत विवरण के लिए देखें फ़त्हुल-क़दीर 3/292-295)

इस पूरे मसले पर अन्य पहलू से भी ग़ौर किया जा सकता है।

इस्लाम ने सम्पूर्ण मानव-जाति की समानता की अवधारणा पेश की है। उसके नज़दीक ख़ानदान और क़बीला मात्र परिचय का माध्यम हैं। इनसानों के बीच श्रेष्ठता का मापदंड तक़वा (ईशभय) है।

(क़ुरआन, 49:13)

अल्लाह के रसूल मुहम्मद (सल्ल॰) ने अपने अन्तिम हज के अवसर पर अपने अभूतपूर्व भाषण में एलान किया कि किसी अरबी को किसी अजमी (ग़ैर-अरब) पर, किसी अजमी को किसी अरबी पर, किसी गोरे को किसी काले पर और किसी काले को किसी गोरे पर कोई श्रेष्ठता और प्रधानता प्राप्त नहीं है। हाँ, जिसके अन्दर तक़वा एवं ईशभक्ति होगी वह श्रेष्ठ है।[1]

कहा जाता है कि इसका सम्बन्ध आख़िरत (पारलौकिक जीवन) से है। वहाँ फ़ैसला अरब-अजम, गोरे-काले के आधार पर नहीं बल्कि तक़वा के आधार पर होगा। इसमें दुनिया के मामलों का उल्लेख नहीं है, परन्तु हदीस इस विचार की पुष्टि नहीं करती है। वह सामान्यतः दुनिया व आख़िरत दोनों ही से सम्बन्धित है। आख़िरत में भी और इस दुनिया में भी श्रेष्ठता का मापदण्ड तक़वा ही है। यह अन्य सभी चीज़ों पर प्रधान है।

कुफ़ू का सवाल निकाह के सिलसिले में पैदा होता है, इस सन्दर्भ में अल्लाह के रसूल मुहम्मद (सल्ल॰) ने फ़रमाया है—

تنکح المرأة لاربع لمالها و لحسبها وجمالها و لدینها فاظفر بذات الدین تربت یداك

"औरत से निकाह चार चीज़ों के लिए किया जाता है।

---

1. इस विषय पर मैंने अपनी पुस्तिका 'इस्लाम और वहदते-बनी-आदम' में इस्लाम की शिक्षाएँ जमा करने की कोशिश की है। इसका अंग्रेज़ी, हिन्दी और कुछ अन्य भाषाओं में अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है। प्रकाशक, मर्कज़ी मक्तबा इस्लामी पब्लिशर्स, नई दिल्ली-25

उसके माल के लिए, उसकी नस्ल के लिए, उसके हुस्न के लिए और उसकी दीनदारी के लिए। तुम दीनदार (औरत) को हासिल करके कामयाब हो जाओ। अन्यथा तुम्हारे हाथ ख़ाक आलूद हों (नाकाम हों)।"

(हदीस : बुख़ारी किताबुन्-निकाह, बाबुल अकफ़ा-फ़िद्-दीन; मुस्लिम, किताबुर-रिज़ाअ, बाबो-इस्तिहबाबि निकाहि-ज़ातिद-दीन।)

इस हदीस से दो बातें मालूम होती हैं। एक यह कि प्रायः लोग माल-दौलत, नस्ल-वंश, हुस्न-सुन्दरता को अहमियत देते हैं, परन्तु एक ईमानवाले की नज़र दीनदारी और तक़वा पर होनी चाहिए और उसे हर दूसरी चीज़ों की अपेक्षा दीनदारी को ही प्रधानता देनी चाहिए। इसी में उसकी कामयाबी है। यह बात निस्सन्देह मर्द से कही गई है। क्या इससे यह दलील नहीं दी जा सकती कि औरत के मामले में भी दीनदार व्यक्ति को हर दूसरे व्यक्ति पर प्राथमिकता प्राप्त होनी चाहिए।

अब आइए फ़ुक़हा के विचारों पर ग़ौर किया जाए। कुफ़ू के मसले में जो व्याख्या ऊपर पेश की गई है वह हनफ़ी मसलक की है। इन सबपर अन्य फ़ुक़हा सहमत नहीं हैं। कुछ दीनी बिन्दुओं पर उनके बीच मतभेद हैं। कुछ बातें फ़ुक़हा ने अपने ज़माने को देखते हुए कही हैं। मौजूदा हालात में ज्यों-का-त्यों उनका अनुसरण कठिन है। इसलिए ज़रूरत महसूस होती है की उन विचारों का ज़्यादा गहराई से अध्ययन किया जाए।

इमाम मालिक (रह०) और कुछ अन्य इमामों के नज़दीक कुफ़ू केवल दीन (धर्म/इस्लाम) में देखा जाएगा, शेष चीज़ों की बुनियादी अहमियत नहीं है। अतः उनके नज़दीक आज़ाद किए हुए ग़ुलाम का निकाह अरब औरतों से हो सकता है। इसपर उन्होंने सूरा अल-हुजुरात की उपरोक्त आयत से दलील दी है। (बिदायतुल मुज्तहिद 4/228) ख़ास बात यह कि हनफ़ी फ़ुक़हा में इमाम करख़ी (रह०) उनके विचार से

सहमत हैं। (फ़त्हुल क़दीर, 3/283)

अल्लामा अबू-बक्र जस्सास की भी यही राय है। इराक़ में अन्य हनफ़ी विद्वानों ने भी उनकी इस राय को अपनाया है। इससे यह नतीजा निकाला गया है कि शायद इसकी पुष्टि में इमाम अबू-हनीफ़ा (रह०) का कोई कथन उनके पास रहा हो। (रद्-दुल-मुहतार 3/209)

हनफ़ी मसलक में कुफ़ू के मसले में सबसे ज़्यादा अहमियत सामान्यतः नस्ल को दी गई है, लेकिन इसके साथ दीन और अख़लाक़ की अहमियत भी पूरी तरह स्वीकार की गई है। अतः यह कहा गया है कि दीनदार ख़ानदान की औरत का कुफ़ू कोई दुराचारी, अनैतिक एवं झूठा मुसलमान व्यक्ति नहीं हो सकता। कारण यह कि एक दीनदार औरत पति के कपट और दुराचार से नस्ल की कमी की अपेक्षा ज़्यादा कष्ट महसूस करेगी।

यह भी स्वीकार किया गया है कि निम्न नस्ल का आदमी इल्म या ज्ञान के द्वारा उच्च नस्ल की औरत का कुफ़ू हो सकता है। यहाँ तक कहा गया है—

العالم العجمی کفو للجاهل العربی والعلوية

> "एक आलिम जिसका सम्बन्ध अजम (ग़ैर-अरब) से है, वह कुफ़ू है उस जाहिल का जो अरबी है और नस्ल से अलवी है।"

इसकी वजह यह बताई गई है कि इल्म की श्रेष्ठता पद, हैसियत और अन्य गुणों से ज़्यादा है। (फ़त्हुल-क़दीर 3/289)

पेशों के सम्बन्ध में जो बातें कही गई हैं मौजूदा हालात में उनकी सार्थकता बाक़ी नहीं रह गई है। आज यह बात देखी जाती है कि एक व्यक्ति किसी निम्न पेशे से सम्बन्ध रखनेवाले ख़ानदान में पैदा हुआ और वह शिक्षा पाकर आगे निकल गया। उसे या उसकी औलाद को बाप-दादा के पेशे से कोई सरोकार नहीं रहा। हो सकता है कि कई

पीढ़ियों से सरोकार न रहा हो, सवाल यह है कि क्या फिर भी उसके ख़ानदानी पेशे की वजह से उसे निम्न कोटि का समझा जाएगा? स्पष्ट है ऐसा नहीं होना चाहिए। फिर क्यों वह किसी सैयद-पुत्री या क़ुरैशी औरत का कुफ़ू नहीं रहा। यदि इल्म और ज्ञान की वास्तव में मर्यादा है तो उसे कुफ़ू मानना चाहिए।

अब उद्योगों की भी शक्लें बदल गई हैं। यह भी देखा जा रहा है कि जो पेशे निम्न कोटि के समझे जाते थे, उच्च नस्ल के व्यक्ति उन्हें अपना रहे हैं। सैयद घराने से सम्बन्ध रखनेवाले लाँड्री चलाते हैं। उन्हें कोई व्यक्ति धोबी नहीं समझता। इसी प्रकार टेलरिंग को जिन लोगों ने व्यवसाय के रूप में अपनाया, उन्हें दर्ज़ी नहीं समझा जाता। मान लीजिए उच्च नस्ल का कोई व्यक्ति कपड़े का कारख़ाना लगाता है या बड़े पैमाने पर कपड़े का कारोबार करता है तो उसे बज़्ज़ाज़ (कपड़ा-फ़रोश) नहीं कहा जाता। फ़ुक़हा ने भी लिखा है कि यदि किसी व्यक्ति के पास कारीगर हों और वह सिलाई का काम कर रहा हो तो वह दर्ज़ी नहीं कहलाएगा। यह स्थिति आज सामान्य रूप से देखी जाती है।

फ़िक़ह में माल-दौलत की अहमियत स्वीकार की गई है और कहा गया है—

ان الناس يتفاخرون بالغنى و يتعيرون بالفقر

"लोग दौलत और सम्पन्नता पर गर्व करते हैं और ग़रीबी और मोहताजी से शर्म महसूस करते हैं।"

(हिदाया मअ-फ़तहिल-क़दीर 3/291)

इसी आधार पर अमीर और ग़रीब को कुफ़ू नहीं समझा जाता है। मौजूदा दौर में आर्थिक संसाधनों पर प्राचीन काल की तरह उच्च वर्ग का क़ब्ज़ा नहीं रह गया है। जिन वर्गों को निम्न समझा जाता है वे भी तरक़्क़ी करके प्रोफ़ेसर, डॉक्टर, इन्जीनियर और साइंटिस्ट बन रहे हैं और उच्च पदों पर पहुँच रहे हैं। ऐसे किसी व्यक्ति का किसी कम्पनी

का मैनेजर या इंडस्ट्री का मालिक होना भी आश्चर्यजनक नहीं रह गया है। आज की दुनिया में ख़ुद औरत भी जाति और नस्ल से ज़्यादा माल-दौलत को ही देखती है। वह एक क़ुरैशी या हाशिमी की अपेक्षा किसी ऐसे व्यक्ति को प्राथमिकता देगी जो जाति-वर्ण में चाहे उससे निम्न हो परन्तु उसकी आर्थिक हैसियत मज़बूत हो। इन हालात में वली को भी इसपर आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

कुफ़ू के पक्ष में एक बात यह कही जाती है कि बेमेल कुफ़ू में पति-पत्नी के बीच के सम्बन्ध का ठीक रहना कठिन है। निस्सन्देह इसकी अहमियत है। जहाँ ऐसी आशंका हो वहाँ ज़रूर इसका ध्यान रखना चाहिए। यह परिस्थितियों पर निर्भर करता है। यदि किसी शरीफ़ ख़ानदान की लड़की किसी निम्न ख़ानदान के व्यक्ति से, उसके इल्म और माली हैसियत के बावुजूद रिश्ता पसन्द न करे तो उसे इसका हक़ है। यह एक सामाजिक मसला है। इसपर उसी दृष्टिकोण से ग़ौर करने की ज़रूरत है। इसे कोई अकाट्य नियम न बनाया जाए।

कुफ़ू के पूरे मसले में दीनदारी, तक़वा और इल्म ही मूल रूप से मापदण्ड हैं, बाक़ी दौलत, पेशा और उद्योग-धन्धों की प्राथमिकता गौण है। इस सम्बन्ध में इनसान का रवैया हालात के अनुसार बदल जाता है। यदि एक व्यक्ति ईश-भक्त और ज्ञानवान है तो निम्न जाति-वर्ण के बावुजूद उच्च जाति की औरत का कुफ़ू (समकक्ष) बन सकता है। फ़िक़्ह में जो विवरण प्रस्तुत किए गए हैं उनसे पूर्णतः इसका खंडन नहीं होता।

ग़ैर-मुस्लिम औरत से निकाह जाइज़ नहीं

प्रश्न :

एक नौजवान ने अपनी इच्छा से इस्लाम क़बूल किया। उसके पिता की मृत्यु हो चुकी है, माँ जीवित है। माँ ने उसकी शादी अपनी जाति के हिन्दू परिवार में तय कर दी है। लड़का ग़ैर-मुस्लिम लड़की से शादी करना नहीं चाहता, परन्तु माँ ज़िद पर अड़ी है कि तुम शादी तो हिन्दू लड़की से ही करोगे चाहे बाद में उसे मुसलमान बना लेना। ऐसी स्थिति में लड़की और उसके परिवार का भी लड़के पर दबाव पड़ सकता है, जिससे और अधिक पेचीदगी पैदा हो सकती है, और इसकी सम्भावना भी है कि लड़की और उसके परिवार को लड़का आगे चलकर इस्लाम की दावत दे और वे इस्लाम क़बूल कर लें। बहरहाल, भविष्य में क्या स्थिति होगी, अभी कुछ नहीं कहा जा सकता। आप इन हालात को सामने रखकर कृपया शरीअत का मसला स्पष्ट करें। साथ ही इस सम्बन्ध में उठनेवाले निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर देने का भी कष्ट करें–

1. सहाबा किराम (मुहम्मद सल्ल॰ के साथियों) के सामने भी ऐसी स्थितियाँ पेश आती रही होंगी। इन हालात में उनका रवैया क्या था?
2. क्या नव-मुस्लिम लड़का हिन्दू लड़की से शादी करने के बाद उसे मुसलमान बना लेने की नीयत से दाम्पत्य सम्बन्ध बना सकता है? और इस बीच इस रिश्ते से पैदा होनेवाली औलाद की क्या हैसियत होगी?

उत्तर :

आपका पत्र मिला। आपके प्रश्नों का संक्षिप्त उत्तर यह है कि इस्लाम के आरम्भिक काल में मुसलमानों और ग़ैर-मुस्लिमों के बीच

दाम्पत्य सम्बन्ध स्थापित होते थे। लेकिन मदीना पहुँचने के बाद क़ुरआन की सूरा-2 बक़रा, आयत-221 और सूरा-60 मुम्तहिना, आयत-10 में इस प्रकार की शादियों से रोक दिया गया और कहा गया कि मुसलमान मर्द का ग़ैर-मुस्लिम औरत से और मुसलमान औरत का ग़ैर-मुस्लिम मर्द से निकाह जाइज़ नहीं है। अतः उन सहाबा ने, जिनके निकाह में उस वक़्त तक ग़ैर-मुस्लिम पत्नियाँ थीं, उन्हें उन्होंने तलाक़ दे दी।

अतः अब कोई व्यक्ति इस्लाम क़बूल करने के बाद ग़ैर-मुस्लिम औरत से शादी नहीं कर सकता। ग़ैर-मुस्लिम औरत से शादी कर लेने की स्थिति में पति-पत्नी दोनों अपनी-अपनी आस्था-विश्वास पर जमे रहेंगे और मतभेद इतने बढ़ जाएँगे कि घर चलाना कठिन हो जाएगा। इसी के साथ इस बात का भी ख़तरा है कि नव-मुस्लिम लड़के का अपनी ग़ैर-मुस्लिम पत्नी से इतना भावनात्मक जुड़ाव हो जाए कि उसके लिए इस्लाम पर क़ायम रहना कठिन हो जाए। बहरहाल, इस्लाम के स्पष्ट आदेशों की रौशनी में इस प्रकार के निकाह की गुंजाइश नहीं है। इस सम्बन्ध में और अधिक जानने के लिए मेरी किताब, 'ग़ैर-मुस्लिमों से सम्बन्ध और उनके अधिकार' देखी जा सकती है।

महरम के बिना हज की यात्रा

प्रश्न :

मैं एक तहरीकी (जमाअते-इस्लामी से जुड़ी हुई) बहन हूँ। मेरी उम्र 39 साल है। जमाअते-इस्लामी से अलहम्दुलिल्लाह पाँच साल से जुड़ी हूँ। इस साल हज को जाने का इरादा है। लेकिन महरम[1] का मसला है। पिछले साल छोटे भाई यह फ़र्ज़ अदा कर चुके हैं। अन्य दो भाई हैं जो फ़िलहाल हज की सामर्थ्य नहीं रखते। इस वर्ष मेरे भाई का साला, उनकी पत्नी और भाई की सास जो उम्रदराज़ हैं, हज को जा रहे हैं। उन्हीं के साथ मैंने भी हज का इरादा किया है। हज के लिए जो ख़र्च की आवश्यकता है अलहम्दुलिल्लाह मेरे पास मौजूद है। भाई साहब ने स्थानीय मुफ़्ती से, जो हनफ़ी मसलक के हैं, मसला पूछा तो मुफ़्ती साहब ने यह फ़तवा दिया कि महरम के बिना औरत से हज की अनिवार्यता समाप्त हो जाती है। मुफ़्ती साहब ने यह भी बताया कि औरत बिना महरम के हज को जाए तो हज हो जाएगा लेकिन वह गुनाहगार होगी।

सवाल यह है कि क्या दूसरे फ़ुक़हा के यहाँ कोई गुंजाइश है? कृपया क़ुरआन और हदीस की रौशनी में इस मसले को स्पष्ट करें। अल्लाह आपको इसका अच्छा बदला दे।

उत्तर :

हज का इरादा मुबारक हो। आपके अन्दर इसकी ख़ाहिश और शौक़ स्वाभाविक है और ईमान की अलामत भी।

आपने पूछा है कि औरत के हज के लिए महरम का उसके साथ होना ज़रूरी है या उसमें कोई रियायत अथवा गुंजाइश भी है? इस मसले में फ़ुक़हा की राय भी जानना चाहती हैं।

---

1. औरत के वे क़रीबी रिश्तेदार जिनसे निकाह हराम है। इसमें पति के अतिरिक्त बेटा, भाई, चचा, मामा, भतीजा, भांजा आदि आते हैं।

फ़ुक़हा की रायें इस मसले में भिन्न हैं। इमाम अबू-हनीफ़ा (रह०) और इमाम अहमद (रह०) की राय यह है कि औरत के हज के लिए उसके साथ महरम का होना ज़रूरी है। इमाम मालिक (रह०), इमाम औज़ाई (रह०) और इमाम शाफ़ई (रह०) ने औरत के लिए महरम की शर्त नहीं रखी है। इमाम मालिक (रह०) कहते हैं कि औरतों का कोई समूह हज पर जा रहा हो तो औरत उनके साथ हज का सफ़र कर सकती है। इमाम शाफ़ई (रह०) कहते हैं कि किसी एक भरोसेमन्द मुसलमान औरत के साथ भी औरत को हज के सफ़र की इजाज़त है। इमाम अहमद (रह०) से एक रिवायत यह भी उद्धृत है कि औरत के फ़र्ज़ हज के लिए महरम की शर्त नहीं है। हाँ, नफ़्ल हज बिना महरम के नहीं करना चाहिए। लेकिन हम्बली मसलक में फ़तवा इसी पर है कि औरत के सफ़र के लिए महरम का होना शर्त है। (इस सम्बन्ध में धर्मशास्त्रियों के मतों को जानने के लिए अल-मुगनी, लि-इब्ने-कुदामा जिल्द-5, पृष्ठ 30-31 क़ाहिरा 1992)

इस व्याख्या से स्पष्ट है कि कुछ फ़ुक़हा के यहाँ औरत के हज के सफ़र के लिए महरम की शर्त नहीं है। लेकिन यह राय कमज़ोर मालूम होती है। इस मसले में इमाम अबू-हनीफ़ा (रह०) और उनके हम ख़याल फ़ुक़हा की राय सामान्यतः दुरुस्त है। कारण यह कि औरत के लिए महरम की शर्त प्रामाणिक हदीसों से साबित है। हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-अब्बास (रज़ि०) की रिवायत है कि अल्लाह के रसूल मुहम्मद (सल्ल०) ने फ़रमाया :

لا يخلونّ رجل بامراة ولا تسافرنّ امرأة الا و معها محرم فقال رجل يا رسول الله! اكتتبت فى غزوة كذا و كذا و خرجت امراتى حاجة۔ فقال اذهب فحجّ مع امرأتك

"कोई व्यक्ति किसी औरत के साथ हरगिज़ ख़लवत (तन्हाई) में न रहे और कोई औरत हरगिज़ सफ़र न करे जब तक कि उसके साथ कोई महरम न हो। इसपर एक व्यक्ति ने कहा, ऐ अल्लाह के रसूल! अमुक जंग में मेरा

नाम लिख दिया गया है और मेरी बीवी हज के लिए रवाना हो गई है (इरादा कर चुकी है)। आप (सल्ल॰) ने फ़रमाया, अपनी बीवी के साथ हज करो।"
(हदीस : बुख़ारी किताबुल-जिहाद, बाबु मन इक्ततबा फ़ी जैशिन, फ़-ख़रजत इम्रअतुहु हाज्जतन; मुस्लिम किताबुल हज, बाबु सफ़रिल-मरअति मअ महरमिन-इलल हज्जि वग़ैरिही।)

मेरी नाचीज़ राय यह है कि महरम के बिना आप हज का इरादा न करें। जब ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाएगी तो उसी वक़्त आपपर हज फ़र्ज़ होगा।

बच्चे के पालन-पोषण का अधिकार

प्रश्न :

मेरी शादी, जैसा कि आप जानते हैं, मेरे मरहूम दोस्त की विधवा से हुई है। इस क़दम से मैं ख़ुश हूँ। एक प्रश्न यह है कि मरहूम की एक बच्ची है, जो अब तक अपनी माँ के पास रहती थी, परन्तु उसके पिता के परिवारवाले उसे अपने पास ले जाना चाहते हैं। यह स्थिति माँ के लिए कष्टदायक है। वह स्वाभाविक रूप से परेशान है। मैं भी चाहता हूँ कि बच्ची माँ के साथ ही रहे। मुझे क्या करना चाहिए, इसमें शरीअत का क्या हुक्म है?

उत्तर :

सबसे पहले तो शादी पर मुबारकबाद क़बूल कीजिए। वास्तविकता यह है कि आपकी शादी से मुझे अत्यधिक प्रसन्नता हुई। मौजूदा दौर में जबकि विधवा के निकाह का प्रचलन कम हो गया है और बहुत-सी जवान विधवाएँ शादी के बिना बैठी हैं, विधवा-विवाह को आम करने की ज़रूरत है। इससे हमारी बहुत-सी सामाजिक समस्याएँ हल होंगी। दुआ है कि अल्लाह आप दोनों को ख़ुश रखे और दीन (इस्लाम) की राह में एक-दूसरे का मददगार बनाए।

आपने जो मसला पूछा है, उसमें शरीअत का हुक्म यह है कि जब तक माँ की दूसरी शादी न हो जाए वह बच्चे की परवरिश की सबसे ज़्यादा हक़दार है। शादी के बाद उसका यह हक़ ख़त्म हो जाएगा। हाँ, उसकी शादी किसी ऐसे व्यक्ति से हो जो बच्चे के लिए महरम हो तो उसका हक़ बाक़ी रहेगा। माँ के बाद यह हक़ नानी (और परनानी और ऊपर तक) को होगा। फिर बच्चे की बहन और ख़ाला (मौसी) आदि आती है।

इस आधार पर मौजूदा स्थिति में बच्ची की माँ को बच्ची की

परवरिश का क़ानूनी हक़ हासिल नहीं है। अलबत्ता, नानी को यह हक़ हासिल है। वह इसकी माँग कर सकती है। यदि आप लोग कोशिश करें तो उम्मीद है कि लड़की के दादा-दादी उसे नानी के हवाले करने के लिए तैयार हो जाएँ।

बच्चे की परवरिश और शिक्षा-दीक्षा में कमी की बात आए तो शरई अदालत में फ़ैसला होगा कि इन हालात में शरीअत की दृष्टि से उसकी परवरिश का कौन हक़दार है?

जहाँ तक माँ के कष्ट अथवा उलझन का सवाल है, हमें इत्मीनान रखना चाहिए कि अल्लाह के आदेशों में अनगिनत तत्वदर्शिताएँ और हिकमतें छुपी हैं। हमें हर हाल में उसके आदेशों को सामने रखना चाहिए।

इद्दत की अवधि में नौकरी

प्रश्न :

मैं एक मसले में क़ुरआन, हदीस और वर्तमान दौर के हालात को देखते हुए आपका फ़तवा मालूम करना चाहती हूँ।

मैं एक विधवा हूँ, मेरे पति ड्यूटी पर जा रहे थे कि अचानक उनका रास्ते में इन्तिक़ाल हो गया। मेरे दो बच्चे हैं जिनमें से एक की उम्र लगभग सोलह साल है। एक बच्ची की उम्र नौ साल है। बच्ची के जन्म के बाद बीमारी के कारण मुझे बच्चेदानी का ऑप्रेशन कराना पड़ा। ऑप्रेशन के बाद आठ साल गुज़र गए, इस बीच मुझे कभी गर्भ नहीं रहा।

मैं एक अस्थायी नौकरीपेशा हूँ और मेरी नियुक्ति केवल तीन-तीन माह के लिए होती है। मेरे ऊपर घर की सभी ज़िम्मेदारियाँ हैं। मेरे या मेरे पति के परिवार में कोई ऐसा आदमी नहीं है जो मेरा और मेरे बच्चों का बोझ उठा सके। केवल मेरे वेतन से ही गुज़र होती है। ड्यूटी पर न जाने की स्थिति में मेरी नौकरी बरक़रार न रह सकेगी। इन हालात में मेरे लिए इद्दत[1] गुज़ारने का क्या हुक्म है? पुनः बता दूँ कि मैं एक अस्थायी मुलाज़िम हूँ। ड्यूटी पर न जाने की स्थिति में नौकरी हमेशा के लिए ख़त्म हो जाएगी।

उत्तर :

आपने जो हालात बयान किए हैं, उन्हें देखते हुए आप इद्दत की अवधि में नौकरी के लिए दफ़्तर जा सकती हैं। अलबत्ता, अपना

---

1. वह अवधि जिसमें तलाक़शुदा अथवा विधवा दूसरा निकाह नहीं करती और बनाव-शृंगार से परहेज़ करती है। तलाक़शुदा के लिए इद्दत की अवधि तीन माह है और विधवा के लिए चार माह दस दिन। गर्भवती के लिए इद्दत की अवधि बच्चा पैदा होने तक है।

आना-जाना केवल दफ़्तर तक सीमित रखें और रात अनिवार्यतः अपने मकान ही पर गुज़ारें। किसी और रिश्तेदार आदि के मकान पर नहीं। अल्लाह आपको और आपके बच्चों को सब्र प्रदान करे और आपके कष्ट दूर करे।[1]

---

[1] विस्तार के लिए देखें अद्-दुर्रुल-मुख़्तार मअ रद्-दिल-मुहतार, जिल्द-2, पृ.854

इद्‌दत की अवधि में रुजूअ

प्रश्न :

एक व्यक्ति ने अपनी पत्नी को तलाक़ दी (एक ही बार)। तीन माह की अवधि ख़त्म होने से सतरह दिन पहले रुजूअ कर लिया। एक साहब को, जो इस मामले में पड़े थे, ताकीद कर दी कि वह पत्नी को इसकी सूचना दे दें। सवाल यह है कि–

(1) यदि तीन माह गुज़रने से पहले पत्नी को इसकी सूचना मिल गई तो क्या ऐसा रुजूअ शरीअत के अनुसार सही है?

(2) यदि उस व्यक्ति ने वक़्त पर सूचना नहीं दी और बाद में पत्नी को पता चला तो क्या इस रुजूअ को मान्यता मिलेगी?

उत्तर :

1. यदि इद्‌दत-अवधि के अन्दर सूचना मिल गई तो रुजूअ मान्य है।
2. इद्‌दत अवधि के बाद पत्नी को सूचना दी गई और उसने इसे स्वीकार कर लिया तो रुजूअ मान्य है। यदि वह इसे स्वीकार न करे तो रुजूअ अमान्य होगा। (हनफ़ी मसलक की मशहूर किताब मुख़्तसरुल-क़ुदुरी के शब्द ये हैं।)

و اذا انقضت العدة قال كنت راجعتها فی العدة فصدقته فهی رجعة و ان كذبته فالقول قولها

(हिदाया जिल्द-2)

मह्र अदा करने के तरीक़े

प्रश्न :

छः शरई मसले जानना चाहता हूँ। उम्मीद है आप जवाब देंगे।

(1) ज़ैद के निकाह को कई बरस हो गए पर उसने अब तक अपनी पत्नी का मह्र अदा नहीं किया। मह्र मुअज्जल[1] था। अब वह सारा मह्र एक मुश्त अदा करे या वह मजबूरी की वजह से मासिक क़िस्तों में भी अदा कर सकता है? उसकी पत्नी मह्र तलब नहीं कर रही है। वह केवल शरई तक़ाज़ों पर खरा उतरना चाहता है।

(2) यदि पत्नी पूरी ज़िन्दगी में कभी अपना मह्र तलब न करे तो क्या ज़ैद गुनाहगार होगा?

(3) क्या पत्नी से मह्र माफ़ कराया जा सकता है? यह बात मालूम है कि वह जब भी तलब करेगी तो तक़ाज़े और नैतिक आधार पर उसे ज़रूर देना होगा।

(4) यदि सोना मह्र के रूप में दिया जा सकता है तो ज़ैद ने सोने के जो ज़ेवरात निकाह के अवसर पर बरी के रूप में दिए थे, क्या वे मह्र माने जा सकते हैं, जबकि उन ज़ेवरात की क़ीमत मह्र की रक़म के बराबर हो?

(5) क्या मह्र सोने के रूप में यानी ज़ेवरात के रूप में दिया जा सकता है?

(6) क्या मह्र नक़द रक़म के अलावा किसी दूसरे रूप में दिया जा सकता है, जैसे– जायदाद आदि।

---

1. मह्र के दो प्रकार हैं, एक मुअज्जल जिसमें मह्र अदा करने के लिए मोहलत मिलती है और निर्धारित समय पर अदा करना होता है। दूसरा मुअ़ज्जल जिसे निकाह के बाद तुरन्त अदा करना होता है।

उत्तर :

आपके प्रश्नों के उत्तर ये हैं—

(1) ज़ैद अपनी पत्नी का महूर यदि वह मुअज्जल है तो ज़िन्दगी में किसी भी वक़्त अदा कर सकता है। पत्नी को आपत्ति न हो तो महूर क़िस्त में भी दिया जा सकता है। एक मुश्त अदा करना ज़रूरी नहीं है।

(2) पत्नी उम्र-भर पति से महूर की माँग न करे तो पति क्यों गुनाहगार होगा? परन्तु यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि महूर अदा करना पति पर फ़र्ज़ (अनिवार्य) है। पत्नी के माँग न करने से यह ख़त्म नहीं हो जाएगा। वह माँग करे या न करे, पति पर फ़र्ज़ है कि महूर ख़ुद से अदा करे।

(3) पत्नी से महूर माफ़ कराया जा सकता है। महूर माफ़ करने के बाद वह पुनः माँग नहीं कर सकती। महूर माफ़ कराने के लिए उसपर दबाव डालना सही नहीं है।

(4) ज़ैद ने निकाह के समय पत्नी को जो ज़ेवरात दिए उनके बारे में यदि उसने स्पष्ट कर दिया था कि ये ज़ेवरात महूर के बदले में दिए जा रहे हैं तो यह अदा हो जाएगा।

और इसी तरह वहाँ भी ज़ेवरात से महूर अदा हो जाएगा जहाँ आमतौर पर ज़ेवरात ही महूर के तौर पर दिए जाते हैं। इन दो स्थितियों में से कोई स्थिति न हो तो वह उपहार समझा जाएगा। महूर अलग से अदा करना होगा।

(5) ज़ेवरात के रूप में महूर देना दुरुस्त है।

(6) महूर में नक़द रक़म के अलावा मूल्य रखनेवाली कोई भी चीज़ दी जा सकती है। अतः जायदाद का देना भी सही है।

कारोबार में औलाद की साझेदारी

प्रश्न :

1. ज़ैद व्यापार के सिलसिले में अपनी बालिग़ औलाद में से किसी एक को आधा या चौथे हिस्से का साझीदार बना सकता है या नहीं?
2. यदि व्यापार में साझीदार बना दिया है तो क्या उक्त औलाद उस निर्धारित हिस्से की मालिक हो सकती है या नहीं?
3. उपर्युक्त निर्धारित हिस्से को पूरा या उसका कुछ हिस्सा, पिता अथवा औलाद ले तो क्या 'हुक़ूक़ुल-इबाद' (बंदों के हक़) के हनन के दोषी होंगे?
4. घरेलू ख़र्च को दोनों पक्षों में से कोई एक बर्दाश्त करेगा या साझा धन से?
5. साझा-लाभ में से यदि कोई चीज़ ख़रीदी गई तो दोनों पक्षों में से प्रत्येक हक़दार होगा या कोई एक?

उत्तर :

आपके प्रश्नों के उत्तर निम्नलिखित हैं।

1. ज़ैद अपनी बालिग़ औलाद को कारोबार में साझीदार बना सकता है। इसमें कोई दोष नहीं है।
2. जो औलाद कारोबार में जिस हद तक साझीदार है वह उसकी मालिक होगी।
3. जो औलाद जिस हिस्से की मालिक है उसे कोई दूसरा नहीं ले सकता।
4. हर व्यक्ति अपने बीवी-बच्चों के ख़र्च का ज़िम्मेदार है, अतः वह उसे बर्दाश्त करेगा। औलाद यदि हैसियतवाली है तो अपने और

अपने बीवी-बच्चों के ख़र्च ख़ुद बर्दाश्त करेगी।

5. साझा-लाभ से जो चीज़ ख़रीदी जाए उसका हर साझीदार अपने हिस्से के अनुपात में मालिक होगा। साझीदार औलाद भी अपने हिस्से के अनुपात की मालिक होगी।

इस प्रकार के मामलों में यह बात ध्यान देने की है कि दूसरी औलाद का कोई नुक़्सान न हो और उसके साथ किसी प्रकार का अन्याय न होने पाए, अन्यथा आदमी सख़्त गुनाहगार होगा। अल्लाह महफ़ूज़ रखे।

कुछ सामाजिक मसले

हैदराबाद के एक सफ़र में औरतों के इज्तिमा (सभा) में भाषण का अवसर मिला। यह जानकर ख़ुशी हुई कि हैदराबाद की शिक्षित औरतों में दीन (इस्लाम) के प्रति रुझान बढ़ रहा है, और केवल बौद्धिक एवं वैचारिक स्तर पर ही नहीं, उनकी ज़िन्दगियों में भी तब्दीली आ रही है। मैंने अपने भाषण में कहा कि आज हर ओर चर्चा है कि इस्लाम में औरतों के अधिकार सुरक्षित नहीं हैं। हालाँकि यह बात वही व्यक्ति कह सकता है जो इस्लामी शिक्षाओं से अवगत न हो। यह भी कहा जाता है कि आज मुसलमान औरत अत्यन्त मज़लूम है और उसपर हर प्रकार से अन्याय हो रहा है। यह भी एक अतिश्योक्तिपूर्ण कथन है। इसमें सन्देह नहीं कि कभी-कभी मुसलमान मर्दों की ओर से ज़ुल्म-ज़्यादती और अशोभनीय व्यवहार होता है, उसी प्रकार औरतों की ओर से भी ग़लतियाँ और ज़्यादतियाँ होती रहती हैं। परन्तु इन दोनों बातों का इस्लाम से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस्लाम ने पति-पत्नी को प्रेम के बन्धन में पिरोया है और उसके माध्यम से पारिवारिक व्यवस्था को मज़बूती प्रदान की है। समस्याएँ उसी समय उत्पन्न होती हैं जब प्रेम का वातावरण ख़त्म हो जाए। मैंने कुछ आपत्तियों का भी जवाब दिया जो इस्लाम की पारिवारिक व्यवस्था पर प्रायः की जाती हैं। फिर यह सवाल किया कि यह बात हम सबके सोचने की है कि जिन लोगों को इस्लाम और मुसलमानों से हमदर्दी नहीं है, जो उसके विरोध का कोई अवसर हाथ से जाने नहीं देते, वे मुसलमान औरत के इतने हमदर्द क्यों हैं? इसकी साफ़ वजह यह है कि इस्लाम ज़िन्दगी के विभिन्न मैदानों से निकाला जा चुका है, परन्तु अभी वह घर और परिवार में बड़ी हद तक महफ़ूज़ है। उसके दुश्मन उसके उसी क़िले को ध्वस्त करना चाहते हैं। इसके लिए उन्होंने यह उपाय सोचा है कि औरत को इस्लाम की

पारिवारिक व्यवस्था के ख़िलाफ़ खड़ा कर दिया जाए ताकि वह अपने अधिकारों की सुरक्षा के नाम पर परिवार ही से बग़ावत कर दे, पति और माँ-बाप को विरोधी समझने लगें और औलाद को दीन (इस्लाम) से दूर कर दे और उन्हें बे-दीनी (अधर्म) के रास्ते पर डाल दे। यह वास्तव में औरत की हमदर्दी के परदे में सम्पूर्ण मुस्लिम समाज को दीन (इस्लाम) से फेरने की साज़िश है। इसपर हमें गम्भीरता से सोचना चाहिए। इसके साथ जिन लोगों को इस्लाम के सम्बन्ध में सन्देह है और वे इसे समझना चाहते हैं उन्हें इस्लामी शिक्षाओं से अवगत कराना भी हम सब की ज़िम्मेदारी है।

भाषण के बाद औरतों की ओर से लगातार प्रश्न हुए जिनसे अन्दाज़ा हुआ कि हमारी औरतें विभिन्न सामाजिक समस्याओं पर सोचती हैं और हल जानना चाहती हैं। प्रश्न लिखित थे, उत्तर मौखिक दिए गए। बाद में उन्हें मेरे प्यारे भाई डॉक्टर रज़ीउल-इस्लाम नदवी ने संकलित किया है। —जलालुद्दीन

प्रश्न : (नौजवानों में व्यावहारिक क्रान्ति के उपाय)

मानसिक क्रान्ति व्यावहारिक क्रान्ति का पहला पायदान है। आज के नौजवानों में वैचारिक क्रान्ति (बदलाव) तो नज़र आती है लेकिन व्यावहारिक क्रान्ति कम दिखाई देती है। इस कमी को पूरा करने के लिए क्या उपाय किया जाना चाहिए?

उत्तर :

यदि सही अर्थों में किसी व्यक्ति या समूह की मानसिकता (सोच) बदल जाए तो उसकी ज़िन्दगी में यक़ीनन बदलाव नज़र आएँगे। यह सम्भव नहीं है कि किसी के अन्दर मानसिक क्रान्ति (ज़ेहनी बदलाव) तो आ जाए और उसकी व्यावहारिक ज़िन्दगी में कोई क्रान्ति (बदलाव) नज़र न आए। इसलिए हमें सोचना चाहिए कि जिस मानसिक क्रान्ति की हम बात करते हैं, क्या वह सचमुच मौजूद भी है या नहीं? वह केवल अध्ययन और तर्क-वितर्क ही का विषय है या वास्तव में

दिल-दिमाग़ में उतर चुका है। यदि वह दिल-दिमाग़ में उतर चुका है तो चरित्र एवं व्यवहार में भी तब्दीली आएगी। इसलिए पहली चिन्ता इस बात की होनी चाहिए कि सही अर्थों में नौजवानों की मानसिकता बदले। इसके बाद यक़ीनन उनकी व्यावहारिक ज़िन्दगी में भी तब्दीली आएगी।

प्रश्न :(दावत और तबलीग़ अर्थात् इस्लाम के प्रचार-प्रसार में पति-पत्नी के बीच सहयोग की कमी।)

अल्लाह का लाख-लाख शुक्र है कि आपने अपने भाषण में पति-पत्नी के सम्बन्धों पर गहरी रौशनी डाली है, लेकिन प्रायः देखने में आता है कि ज़िन्दगी के बहुत-से मामलों में पति-पत्नी मिलकर और बाहम तालमेल के साथ काम करते हैं, परन्तु इस्लाम की दावत और तबलीग़ की राह में दोनों के बीच सहयोग की वह भावना नहीं पाई जाती। इसकी क्या वजह है?

उत्तरः

यह बात बिल्कुल सही है कि दुनिया के सभी कामों में पति-पत्नी एक-दूसरे का सहयोग करते हैं, लेकिन जहाँ दावत और तबलीग़ के लिए जिद्दोजुहद का सवाल पैदा होता है वहाँ वे एक-दूसरे के सहयोग से हाथ छुड़ा लेते हैं या अपेक्षित सहयोग नहीं करते। इसकी बुनियादी वजह यह है कि दुनिया के कामों को जितनी अहमियत दी जाती है उतनी अहमियत दीनी कामों को नहीं दी जाती। यदि दीनी कामों के महत्त्व का एहसास जागृत हो जाए तो इसके लिए भी दोनों के अन्दर वैसी ही चिन्ता पैदा हो जाएगी, जैसी दुनिया के कामों की चिन्ता होती है।

प्रश्न : (लड़कियों का इस्लामी सीमाओं में रहते हुए उच्च शिक्षा प्राप्त करना।)

क्या आज के दौर में लड़कियाँ इस्लामी सीमाओं में रहते हुए उच्च शिक्षा नहीं प्राप्त कर सकतीं या प्रोफ़ेशनल कोर्सेज़, जैसे— मेडिकल कोर्स आदि में नहीं जा सकतीं?

उत्तर :

उच्च शिक्षा की व्यवस्था हमारे देश में प्रायः मुसलमानों के हाथ में नहीं है। मुसलमानों के द्वारा स्थापित की गई संस्थाओं में भी इस्लाम की सीमाओं की पाबन्दी कम ही की जाती है। इसके साथ यह भी तथ्य है कि आज के दौर में चिकित्सा अथवा अन्य प्रोफ़ेशनल शिक्षा प्राप्त करना औरतों के लिए भी ज़रूरी-सा हो गया है। इससे पूर्णतः बचना सम्भव नहीं है। दूसरी ओर इसमें समग्र रूप से मुस्लिम उम्मत के नफ़ा (हित) का पहलू भी है। इसलिए यथासम्भव इस्लाम की सीमाओं की पाबन्दी के साथ, मेरे विचार से, इस प्रकार की शिक्षा प्राप्त करने की इजाज़त लड़कियों को होनी चाहिए। अलबत्ता मुसलमानों को इसकी चिन्ता करनी चाहिए कि औरतों की आधुनिक उच्च शिक्षा के लिए शरई सीमाओं के अन्तर्गत व्यवस्था हो।

प्रश्न : (विदेशों में बिना महरम औरतों की नौकरी)

अविवाहित लड़कियों के लिए क्या यह सही है कि वे बिना महरम के मात्र रुपये के लिए विदेश चली जाएँ?

उत्तर :

अविवाहित लड़कियाँ हों या विवाहित महिला, किसी जवान औरत के लिए बिना महरम के लम्बी यात्रा करना और विदेश में जाकर रहना नाजाइज़ है। शरीअत ने इसकी इजाज़त नहीं दी है। जो लड़कियाँ या जवान औरतें ऐसा करती हैं वे शरीअत के ख़िलाफ़ काम करती हैं।

प्रश्न : (अश्लीलता की परिभाषा)

इस्लाम में 'फ़ुह्श' (अश्लीलता) को हराम कहा गया है। कृपया अश्लीलता की परिभाषा कर दें।

उत्तर :

अश्लीलता (फ़ुह्श) की कोटि में वे सभी काम आते हैं जिन्हें स्वस्थ मानव-स्वभाव अर्थात् प्रकृति बेहयाई (निर्लज्जता) और बेशर्मी के

काम समझती है और जिन्हें इस्लाम में बेहयाई के काम में सम्मिलित किया गया है।

प्रश्न : (औरत के सतर अर्थात् छुपाने योग्य शरीर के अंग की सीमा)

क्या औरत के 'सतर' में पाँव के पंजे भी शामिल हैं?

उत्तर :

हदीसों से मालूम होता है कि आवश्यकतानुसार औरत का हाथ और चेहरा अजनबी मर्दों के सामने खुल सकता है। इस आधार पर फ़िक़्ह में पैर के खुलने की भी इजाज़त दी गई है, क्योंकि हर समय पैर का ढके रखना या मोज़ों का इस्तेमाल करना कठिन है।

प्रश्न : (पति का पत्नी को हज कराना)

यदि पति पत्नी को अपने ख़र्च पर हज करा दे तो पत्नी का फ़र्ज़ (हज) अदा हो जाएगा या नहीं?

उत्तर :

जी हाँ! अदा हो जाएगा।

प्रश्न : (आवाज़ का परदा)

औरत के लिए आवाज़ का भी परदा है या नहीं?

उत्तर :

औरत का अजनबी मर्दों से अकारण बातचीत करना नापसन्दीदा है। लेकिन बहुत-सी बौद्धिक, धार्मिक, सामाजिक ज़रूरतों के तहत उसे बातचीत करनी पड़ती है। इस सम्बन्ध में क़ुरआन की हिदायत यह है कि किसी ग़ैर-महरम से बातचीत के समय औरत की आवाज़ में माधुर्य न हो। उसकी आवाज़ ऐसी न हो कि ग़ैर-मर्द के दिल में उसके प्रति आकर्षण पैदा हो, बल्कि उसके बोलने के लहजे यानी शैली में किसी हद तक तीखापन और बेरुख़ी का भाव हो और बात नेकी, तक़वा, दीन व दुनिया की भलाई की हो। इन हिदायतों को सामने रखकर औरत अजनबियों से बात कर सकती है।

प्रश्न : (इद्दत की अवधि में शादीघर (मैरिज हॉल) में जाना)

किसी औरत के इद्दत के दिन पूरे नहीं हुए हैं। इसी बीच उसके लड़के की शादी है। वह शादीघर में जा सकती है या नहीं?

उत्तर :

इद्दत की अवधि के बीच औरत केवल अत्यावश्यक कामों से जैसे, इलाज आदि के लिए घर से बाहर निकल सकती है। लड़के की शादी में उपस्थित होने की गिनती अत्यावश्यक काम में नहीं होगी। इसलिए उसे ऐसा नहीं करना चाहिए।

प्रश्न : (औरतों का नमाज़ में इमामत करना)

क्या औरतों की नमाज़ में औरत इमामत कर सकती है?

उत्तर :

फ़िक़्ह हनफ़ी के अनुसार औरतों की (नमाज़ में) जमाअत की इमामत औरत नहीं कर सकती। लेकिन मेरे विचार में औरतों की ही जमाअत हो तो औरत इमामत कर सकती है। इसपर विस्तार से चर्चा मैंने अपनी किताब 'औरत इस्लामी समाज में' में की है।

प्रश्न : (बर्थ कंट्रोल)

बर्थ कंट्रोल किस सीमा तक सही है? जैसा कि मालूम है, दो बच्चों के बीच अन्तराल कम होने से माँ और बच्चे दोनों के लिए सेहत और परवरिश आदि का मसला पैदा हो जाता है। इसलिए क्या कृत्रिम उपाय से इस अन्तराल को बढ़ाया जा सकता है?

उत्तर :

क़ुरआन ने बच्चे को दूध पिलाने की अवधि दो साल बताई है। मेरी राय में इस अवधि में गर्भ से बचने के उचित उपाय करना नाजाइज़ न होगा।

प्रश्न : (सास-बहू के झगड़े से बचने का उपाय)

आज-कल साह-बहू के झगड़ों की बहुलता ने शरीअत व क़ानून दोनों को अनदेखा कर दिया है। इनसे बचने के लिए क्या उचित उपाय किए जाएँ?

उत्तर :

इसमें शक नहीं कि हमारे समाज में सास-बहू के झगड़े लोकोक्ति बन चुकी है। शायद बहुत कम घर इससे सुरक्षित हैं। सास यह समझती है कि लड़का उसका है और उसका सम्पूर्ण प्रेम और ध्यान उसी की ओर हो। जब वह यह देखती है कि बहू उसके प्रेम में साझीदार बन रही है और लड़का उसकी ओर ध्यान दे रहा है तो झगड़ा शुरू होता है। हालाँकि सास को यह समझना चाहिए कि बहू अपने कुछ अधिकार लेकर आती है और उन अधिकारों का पूरा करना उसके लड़के के लिए ज़रूरी है। उन्हें वह नज़रअन्दाज़ नहीं कर सकता और यह भी अस्वाभाविक बात है कि कोई औरत अपने नौजवान लड़के से इसकी अपेक्षा रखे कि वह अपनी पत्नी से प्रेम न करेगा या सम्बन्ध नहीं रखेगा। इसलिए इस तथ्य को स्वीकार करना होगा कि अब उसके लड़के का प्रेम उसके लिए वैसा ही विशुद्ध नहीं रह सकता जैसा शादी से पहले था। यदि यह एहसास उसके अन्दर हो तो बहू के साथ उसके रवैये में तबदीली आएगी। दूसरी ओर बहू को भी यह महसूस करना चाहिए कि जिस तरह उसके माँ-बाप हैं उसी तरह उसके पति के भी माँ-बाप हैं। उसका उनसे प्रेम करना, उनकी सेवा करना और उनके अधिकारों को पहचानना उसके लिए ज़रूरी है। वह उन्हें नज़रअन्दाज़ नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त पति से प्रेम की माँग है कि उसकी माँ को अपनी माँ समझे और उसकी ख़िदमत को अपने लिए सवाब का कारण एवं सौभाग्य समझे। यदि यह एहसास बहू में पैदा हो जाए तो सास के साथ सम्बन्धों में जो तनाव पैदा हो जाता है उसमें यक़ीनन कमी आ सकती है।

प्रश्न : (क्या बहू पर ससुरालवालों की सेवा ज़रूरी है?)

शादी के बाद लड़कीवालों की ओर से बार-बार यह कहा जाता है कि ससुरालवालों की ख़िदमत (सेवा) बहू पर फ़र्ज़ (अनिवार्य) नहीं है। यह कहाँ तक सही है?

उत्तर :

क़ानूनी रूप से ससुराल के लोगों की ख़िदमत, जैसा कि हमारे यहाँ रिवाज है, जिसमें ननद, देवर, जेठ, सास-ससुर आदि की ख़िदमत लड़की के लिए ज़रूरी समझी जाती है, सही नहीं है। लड़की का सम्बन्ध मूलतः उसके पति से है। इसलिए उसपर क़ानूनी रूप से उनकी (ससुरालवालों की) ख़िदमत की ज़िम्मेदारी नहीं आती, परन्तु नैतिकता की दृष्टि से पति के रिश्तेदारों का ख़याल रखना चाहिए। उसी प्रकार पति के रिश्तेदारों को भी उसकी पत्नी का ख़याल रखना होगा और उसके साथ ज़ोर-ज़बर्दस्ती की जगह प्रेम का व्यवहार अपनाना होगा। इसी से हमारा समाज सही रह सकता है।

प्रश्न : (घरेलू ज़िम्मेदारियों और दावती काम में प्राथमिकता)

औरतों को इस्लाम के दावती काम की इजाज़त शरीअत ने एक ख़ास सीमा के अन्तर्गत दी है। परन्तु कुछ ऐसे अवसर आ जाते हैं जब दावत और तबलीग़ के काम का भी महत्त्व होता है और उसके साथ घर में पति और बच्चों से सम्बन्धित काम भी अंजाम देना ज़रूरी होता है। ऐसी स्थिति में किस काम को प्राथमिकता देनी चाहिए?

उत्तर :

ऐसी स्थिति में पति और बच्चों का हक़ प्रधान होगा। आप मूलतः अपने घर के कर्त्तव्यों को पूरा करने के बाद कोई काम करेंगी। घर को नज़रअन्दाज़ करके दावत के काम में लग जाना सही नहीं है। इससे आगे चलकर ख़ुद दावती काम में रुकावटें पैदा हो सकती हैं।

प्रश्न : (ग़ैर-मुस्लिम माता-पिता के यहाँ ठहरना)

क्या कोई औरत इस्लाम क़बूल करने के बाद अपने ग़ैर-मुस्लिम माता-पिता के घर रहते हुए वहाँ खाना आदि खा सकती है?

उत्तर :

इस्लाम क़बूल करने के बाद जब तक उस औरत का अपना कोई आर्थिक स्रोत न हो वह अपने माता-पिता के घर रह सकती है और वहाँ खाना भी खा सकती है। हाँ, ऐसे खाने जिनपर 'ग़ैरुल्लाह' (अल्लाह के अलावा) का नाम लिया जाए, उनसे उसे बचना होगा।

प्रश्न : (स्टेट की शासनाध्यक्ष महिला क्या मर्दों की क़व्वाम होगी?)

इस्लाम ने मर्द को 'क़व्वाम' (प्रधान) बनाया है। परन्तु यदि किसी राज्य/देश में औरत सत्तासीन हो जाए तो क्या मर्दों पर उसे क़व्वामियत (प्रधानता) हासिल हो जाएगी?

उत्तर :

इस्लाम ने पारिवारिक व्यवस्था में मर्द को 'क़व्वाम' बनाया है। इसके साथ ही उसने यह भी स्पष्ट किया है कि औरत पर इस्लामी रियासत के नेतृत्व की ज़िम्मेदारी नहीं डाली जा सकती। इसलिए यह सवाल नहीं पैदा होता कि इस्लामी रियासत में औरत शासनाध्यक्ष बन जाए तो वह मर्दों की क़व्वाम हो जाएगी। इसकी व्याख्या मेरी किताबों 'औरत : इस्लामी समाज में' और 'मुसलमान औरतों के अधिकार' में देखी जा सकती है।

प्रश्न : (वर्तमान समय में औरत को घर से बाहर निकलने के लिए क्या मापदण्ड/कोड हैं?)

इसमें शक नहीं कि औरत शरीअत की सीमाओं की पाबन्दी के साथ घर से बाहर निकल सकती है। लेकिन वर्तमान समय में जबकि नैतिक एवं सामाजिक बुराइयाँ आम हो चुकी हैं, इस इजाज़त से कैसे फ़ायदा उठाया जा सकता है? और इस मामले में मुसलमान औरतों की क्या भूमिका होनी चाहिए?

उत्तर :

बहुत-सी दीनी एवं दुनियावी ज़रूरतें इस बात की माँग करती हैं कि औरत घर से बाहर निकले। अतः परदे के साथ औरत घर से बाहर निकल सकती है। जिन बुराइयों का आपने संकेत किया है उनसे यथासम्भव बचने की कोशिश करनी चाहिए।

प्रश्न : (तलाक़शुदा औरत का भरण-पोषण)

जैसा कि आपने अपने भाषण में कहा कि तलाक़ के बाद भी इस्लामी शरीअत के अनुसार औरत बेसहारा नहीं होती। उसके माँ-बाप और दूसरे क़रीबी रिश्तेदारों पर उसकी ज़िम्मेदारी आती है। सवाल यह है कि यदि तलाक़शुदा औरत के माँ-बाप, औलाद या भाई-बहन इस योग्य न हों कि उसका बोझ उठा सकें तो फिर ऐसी स्थिति में इस्लामी फ़िक़ह क्या कहती है?

उत्तर :

इसकी सम्भावना कम है कि पूरे ख़ानदान में उसका बोझ उठानेवाला कोई व्यक्ति मौजूद न हो या मौजूद हो परन्तु उसका बोझ उठाने की पोज़ीशन में न हो। यदि कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो तो मुस्लिम उम्मत की ज़िम्मेदारी है कि जहाँ कहीं सम्भव हो बैतुल-माल (इस्लामी राजकोष) की व्यवस्था क़ायम करे, ताकि ऐसी तलाक़शुदा या विधवा औरतों की आर्थिक समस्या हल हो।

प्रश्न : (फ़िक्स्ड डिपाज़िट में रक़म जमा करना)

किसी विधवा औरत को पति की ओर से कुछ रक़म मिलने पर वह उसे फ़िक्स्ड डिपाज़िट में रखकर उसके लाभ से गुज़ारा कर सकती है या नहीं? इसलिए कि उसे कारोबार में लगाना जोखिम से ख़ाली नहीं है।

उत्तर :

यह स्पष्ट रूप से सूद से लाभान्वित होना है, इससे हर मुसलमान

को हर हाल में बचना चाहिए। किसी ऐसे कारोबार में पैसा लगाना चाहिए जिसमें जोखिम की सम्भावना कम से कम हो।

प्रश्न : (व्यापार में लाभ-हानि में साझीदार होना ज़रूरी है)

आजकल लोग व्यापार में केवल लाभ (Profit) में हिस्सेदार होना चाहते हैं। व्यापार में मालिक को चाहे कितना ही नुक़्सान उठाना पड़े हिस्सा लेनेवाले को पूरी रक़म देनी पड़ती है। क्या यह जाइज़ है? कभी-कभी हानि होने की स्थिति में व्यापार के मालिक को मजबूरन क़र्ज़ लेकर हिस्सेदार को रक़म अदा करनी पड़ती है। सवाल यह है कि व्यापार में साझीदार होनेवाले लाभ-हानि (Loss and Profit) दोनों में बराबर के साझीदार होते हैं या नहीं?

उत्तर :

किसी व्यापार में जो लोग साझीदार हों वे Loss and Profit के आधार पर साझीदार हो सकते हैं। केवल Profit की शर्त लगाना और Loss को स्वीकार न करना शरीअत के अनुसार सही नहीं है। यह एक प्रकार का सूद है।

प्रश्न : (क़ुरबानी का गोश्त ग़ैर-मुस्लिम को तोहफ़े में देना)

क्या क़ुरबानी का गोश्त ग़ैर-मुस्लिमों में बाँटा जा सकता है या तोहफ़े के रूप में दिया जा सकता है?

उत्तर :

जी हाँ! इसमें कोई दोष नहीं है।

प्रश्न : (टीवी के इस्तेमाल का हुक्म)

कुछ लोग टीवी को नाजाइज़ और हराम बताते हैं, जबकि इसका सम्बन्ध प्रचार-प्रसार के माध्यम से है। क्या टीवी पर मालूमाती और सकारात्मक प्रोग्राम देखे जा सकते हैं? इसके नकारात्मक एवं साकारात्मक पहलू को स्पष्ट कीजिए। इसपर जो तस्वीरें मर्दों और औरतों की आती हैं, उन्हें देखना जाइज़ है या नहीं?

उत्तर :

टीवी प्रचार-प्रसार का एक माध्यम है, परन्तु यह चूँकि उन लोगों के हाथों में है जो दीनी (इस्लामी) और अख़लाकी (नैतिक) सीमाओं के पाबन्द नहीं हैं, इसलिए उनमें ज़्यादातर प्रोग्राम ऐसे आते हैं जो इस्लाम की शिक्षाओं और उसके द्वारा निर्धारित सीमाओं एवं शिष्टाचार के ख़िलाफ़ हैं। इसके साथ कई बार बहुत लाभदायक मालूमाती और प्रेरणादायी प्रोग्राम भी आते हैं। उनमें भी मर्दों और औरतों की तस्वीरें होती हैं। मेरा विचार है कि इन प्रोग्रामों को देखा जा सकता है। अलबत्ता जब ना-महरम की तस्वीर सामने आए तो यथासम्भव 'ग़ज़्ज़े-बसर' (नज़र फेरने) से काम लिया जाए।

(समाप्त)

☆☆☆